हिन्दी-साहित्य में भ्रमरगीत की परम्परा

लेखिका
सरला शुक्ल, एम. ए.
हिन्दी-विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय.

[१९५३

हिंदी-साहित्य
में
भ्रमरगीत की परम्परा

लेखिका
सरला शुक्ल, एम० ए०
हिन्दी-विभाग
लखनऊ-विश्वविद्यालय.

प्रथम संस्करण] [१९५३

प्रकाशक—
हिंदी-साहित्य-समाज
लखनऊ-विश्वविद्यालय

मूल्य : चार रुपया

मुद्रक—
बिपिनबिहारी कपूर
(राजा) रामकुमार-प्रेस, लखनऊ.

वक्तव्य

हिन्दी-विभाग के द्वारा साहित्यिक और सांस्कृतिक खोज सम्बन्धी कार्य 'लखनऊ विश्वविद्यालय प्रकाशन' के रूप में हम प्रस्तुत कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में सेठ 'भोलाराम सेकसरिया ग्रन्थमाला' के कई पुष्पों से साहित्यिक विद्वान् पहले ही परिचित हैं। इसके अन्तर्गत उच्चकोटि के गवेषणापूर्ण वृहदाकार ग्रन्थों का प्रकाशन किया जा रहा है। ये ग्रन्थ प्रायः हिन्दी-विभाग के अध्यापकों अथवा विद्यार्थियों के द्वारा 'पी एच० डी०' डिग्री के लिये प्रस्तुत किये गये प्रबन्ध हैं। परन्तु हमारे यहाँ एम० ए० की परीक्षा के अन्तर्गत लिखे गये कुछ छोटे प्रबन्ध भी हैं जो एक बड़ी संख्या में हैं और प्रकाशन की प्रतीक्षा में हैं। इन छोटे छोटे अध्ययनों को प्रकाशित करने के विचार से ही विश्वविद्यालय में एक 'सेकसरिया अध्ययनमाला' का सूत्रपात किया गया है। हम श्री शुभकरणजी सेकसरिया के परम आभारी हैं जिन्होंने अपने स्वर्गीय पिता श्री भोलाराम सेकसरिया के नाम पर इन दोनों ग्रन्थमालाओं के लिए निधि प्रदान की है और उसी के बल पर ही हम इन मालाओं में सूत्र - संचालन कर रहे हैं।

प्रस्तुत पुस्तक "हिन्दी-साहित्य में भँवरगीत की परम्परा" उक्त विद्यार्थी अध्ययनमाला का तृतीय पुष्प है। इसकी लेखिका श्रीमती सरला शुक्ल, एम० ए०, हिन्दी विभाग की अध्यापिका हैं, यह निबन्ध लेखिका द्वारा मेरी देखरेख में एम० ए० थीसिसरूप में प्रस्तुत किया गया था। श्रीमती शुक्ल प्रथम श्रेणी की छात्रा रही हैं। वे एक प्रतिभाशालिनी लेखिका और परिश्रमशीला अध्यापिका हैं। मेरा विश्वास है कि हिन्दी-साहित्य के विद्यार्थी और साहित्यप्रेमी सज्जनों को यह निबन्ध रुचिकर प्रतीत होगा, और मुझे यह आशा है कि श्रीमती शुक्ल की लेखनी से और भी ग्रन्थ सामने आवेंगे।

दीनदयालु गुप्त
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय

दो शब्द

कृष्णकाव्य की परम्परा में 'भ्रमरगीत' प्रसंग बहुत प्रिय रहा है। भ्रमरगीत की यह परम्परा, जो भक्तिकालीन साहित्योर्वर भूमि में पनपी थी, अद्यावधि पल्लवित होती रही। हिन्दी-साहित्य में इस परम्परा को जन्म देने वाले ब्रजभाषा के सर्वोच्च कवि सूरदास हैं। उनके 'भ्रमरगीत' का विषय तत्त्व भागवत से लिया गया है किन्तु सूर की प्रतिभा के कारण वह सर्वथा मौलिक ही कहा जा सकता है। बाद के भ्रमरगीतों में सूर का प्रभाव स्पष्ट है। केवल सत्यनारायण कविरत्नजी के 'भ्रमरगीत' में धार्मिक भावना की अपेक्षा सामाजिक चेतना अधिक मुखर है।

इन प्राचीन तथा नवीन भ्रमरगीतों में भाषा, शैली तथा विषयतत्व की दृष्टि से भी अन्तर है। सूरदास तथा परमानन्ददास के भ्रमरगीतों में भावात्मक व्यञ्जना ही प्रधान थी किन्तु आधुनिक भ्रमरगीतों में बौद्धिक पक्ष तथा तर्क का प्राधान्य है। भ्रमर को प्रतीक मानकर भ्रमरगीतों में कहीं तो गोपी-विरह की अभिव्यक्ति अधिक है और कहीं निर्गुण सगुण सम्बन्धी विवाद। सूर के भ्रमरगीत में गोपियों की विरहावस्था की व्यञ्जना ही अधिक है, नन्ददास और रत्नाकरजी के भ्रमरगीतों में बौद्धिकता और दार्शनिक भावाभिव्यक्ति प्रधान है किन्तु इन सभी भ्रमरगीतों में न्यूनाधिक रूप में दोनों ही तत्व उपलब्ध हैं।

'भ्रमरगीत' सम्बन्धी फुटकल पदों में गोपी-विरहाभिव्यक्ति ही अभीष्ट है क्योंकि इनमें से अधिकांश रीतिकालीन कवियों द्वारा विप्रलम्भ श्रृंगार या अलंकारों के उदाहरण स्वरूप ही लिखे गये हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध में सुलभ रचनाओं का अध्ययन सम्भव हो सका है। अनेक कवि ऐसे भी हैं जिनके काव्य में भ्रमरगीत प्रसंग किसी न किसी रूप में आया है। जैसे नवनीत चतुर्वेदी, रसिकराय, भावन कवि, प्रांगण कवि, रसनायक, बिंदु ब्रह्मचारी, वृन्दावनदास, महाराज रघुराजसिंह इत्यादि। किन्तु इनकी रचनाओं का सुलभ प्रकाशन प्रकाशित न होने के कारण अध्ययन सम्भव न हो सका।

रसिकराय तथा रसनायक के ग्रन्थों का विवेचन श्रीभवानीशंकरजी याज्ञिक की कृपा के द्वारा ही सम्भव हो सका। रसनायक का विरहविलास काव्य की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर है। इनके काव्य का विभाजन पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध दो भागों में हुआ है। मूल भाव को प्रथम एक दोहे में रखकर उसे कवित्त सवैयों में प्रसारित किया गया है। इनके उद्धव भी गोपी विरह से अत्यन्त प्रभावित होते हैं। गोपी व्यथा सुनकर कृष्ण जब उद्धव को पुनः ब्रज भेजना चाहते हैं तो वे उन्हें उत्तर देते हैं—

मों हू सों चतुर काहू और ही पटाव नाथ,
गोपीन बुलाय आप कीजै क्यों न जोगिनी।

इसी प्रकार आधुनिक कवियों में भी श्रीकन्हैयालाल पोद्दार का "गोपी-गीत" तथा श्रीश्यामसुन्दरदास दीक्षित का "श्याम-संदेश" छूट गये हैं। कुछ गुजराती भाषा के कवि भी हैं जिन्होंने इस प्रसंग पर लिखा है। बहुत सम्भव है अन्य प्रान्तीय भाषाओं में भी इस प्रसंग पर लिखने वाले कवि प्राप्त हो सकें। यदि सम्भव हो सका तो आगामी संस्करण में इस समग्र सामग्री का उपयोग हो सकेगा।

गोपियों के वाह्यान्तरिक चित्रण का आधार लेकर स्त्री प्रकृति का चित्रण, भ्रमरगीतों में मनोविज्ञान का स्थान, तर्क पद्धति, राधातत्व की उत्पत्ति, कृष्ण की ऐतिहासिकता, कुब्जा की कल्पना, उद्धव का स्थान आदि ऐसे अनेक पक्ष हैं जिन पर अवकाश न होने के कारण प्रकाश नहीं डाला जा सका। प्रस्तुत निबन्ध में भ्रमरगीतों का साहित्यिक, दार्शनिक तथा सामाजिक दृष्टिकोणों से अध्ययन करने का प्रयास किया गया है।

अक्षयतृतीया
सम्वत् २०१०

सरला शुक्ल

विषय-सूची

सहायक ग्रंथ

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय	डा० दीनदयालु गुप्त
२. जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
३. सूरदास	,,
४. भ्रमरगीत-सार	,,
५. हिन्दी साहित्य का इतिहास	,,
६. चिन्तामणि	,,
७. ब्रज माधुरी-सार	श्री वियोगी हरि
८. कविता-कौमुदी	श्री रामनरेश त्रिपाठी
९. छन्द-प्रभाकर	श्री "भानु"
१०. काव्यांग-कौमुदी	पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र तथा पं० मोहनलाल पंत
११. वाङ्मय विमर्श	पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र
१२. काव्य-कल्पद्रुम (रसमंजरी)	श्री कन्हैयालाल पोद्दार
१३. गोपी-प्रेम	,,
१४. नव-रस	श्री गुलाबराय
१५. काव्य में अप्रस्तुत योजना	श्री रामदहिन मिश्र
१६. प्रकृति और काव्य	श्री "रघुवंश"
१७. आधुनिक ब्रजभाषा काव्य	पं० शुकदेवविहारी मिश्र तथा पं० रामशंकर शुक्ल "रसाल"
१८. सूरसागर	वेङ्कटेश्वर प्रेस प्रकाशन
१९. गोपी-विरह और भँवरगीत (सूरकृत)	सं० प्रेमनारायण टंडन
२०. नंददास कृत भँवरगीत	,,
२१. नंददास कृत-रासपञ्चाध्यायी और भँवरगीत	डा० उदयनारायण तिवारी
२२. नंददास कृत भँवरगीत	सं० डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल'
२३. प्रियप्रवास	श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

२४. द्वापर — श्री मैथिलीशरण गुप्त
२५. उद्धव-शतक — श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर'
२६. आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत — डा० केशरीनारायण शुक्ल
२७. कवित्त रत्नाकर (सेनापति कृत) — सं० उमाशंकर शुक्ल
२८. मतिराम-मकरन्द — सं० हरिदयालु सिंह
२९. रहीम कवितावली — सं० सुरेन्द्रनाथ तिवारी
३०. भक्तियोग — विवेकानंद ग्रन्थावली
३१. ज्ञान योग — ,,
३२. ज्ञान और धर्म — श्री रूपनारायण पाण्डेय
३३. भक्ति योग — श्री अश्वनीकुमार दत्त
३४. साहित्य — श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के निबन्ध
३५. श्रीमद्भागवत — गीता प्रेस प्रकाशन
३६. श्रीमद्भगवद्गीता — ,,
३७. नारद भक्ति सूत्र — ,,
३८. शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र व्यवस्था — सं० गोपीनाथ कविराज
३९. चैतन्य चरितामृत
४०. कल्याण भागवतांक — गीता प्रेस प्रकाशन
४१. ,, साधनांक — ,,
४२. हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण — श्री श्यामसुन्दरदास, नागरी प्रचारिणी सभा प्रकाशन
४३. खोज रिपोर्ट सन् १९०९, १९१०, १९११, १९०६, १९०७, १९०८ — नागरी प्रचारिणी सभा प्रकाशन
४४. साहित्य सन्देश (मासिक पत्रिका) — आगरे से प्रकाशित
४५. परमानन्ददास के पद — डा० दीनदयालुजी के निजी संग्रह से (अप्रकाशित)
४६. माल कवि का भ्रमर-गीत — डा० केशरीनारायण शुक्ल के निजी संग्रह से (अप्रकाशित)

भँवर-गीत की परम्परा

"कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है जहाँ जगत् की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। ××× इस अनुभूति योग के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।" * अतः काव्य का वास्तविक उद्देश्य मानव का मानव से, तथा मानव का इतर सृष्टि से सम्बन्ध स्थापित करना हुआ और यह सम्बन्ध भी हृदय की उन कोमल भावनाओं पर निर्भर होना चाहिये जो प्राणी की सचेतन संज्ञा को सार्थक करती हैं। काव्यस्रष्टा इस उद्देश्य की पूर्ति के हेतु अपनी कृति का आधार मार्मिक स्थलों को बनाता है। अतः जिस काव्यधारा के तट पर ऐसे मार्मिक स्थलों की संख्या जितनी अधिक होगी, मानव जाति उस धारा का उतना ही अधिक सम्मान करेगी। कवि-हृदय तो ऐसे प्रभावोत्पादक तथा मार्मिक स्थलों पर अधिक रमता ही है। कृष्णचरित में ऐसे स्थल प्रचुर संख्या में हैं। यही कारण है कि पौराणिक कथाओं को अपने काव्य का विषय बनानेवाले कवियों में कृष्ण-काव्य-धारा के कवियों की संख्या अपरिमित है।

कृष्ण काव्य के रचयिताओं में एक बात दर्शनीय है कि ये भक्त-कवि योगिराज कृष्ण की बाल और पौगण्ड वृत्तियों के ही गुणगायक हैं। इनका चित्त कृष्ण के आनन्द-स्वरूप और उसकी लीलाओं में ही अधिक रमा है। इन कवियों का सर्वस्व माखनचोर और चीरापहारी नंद-सुवन की एक त्रिभंगी छटा ने ही हर लिया था, फिर भला ऐश्वर्य-स्वरूप द्वारिकानाथ का ध्यान उन्हें कहाँ से होता। ये उसी व्रज-कृष्ण के गुण-कीर्तन में लग गये। कृष्ण की इन दोनों ही लीलाओं में रस-राज "शृंगार" का प्राचुर्य रहा है, अतः साहित्य-

---

* रामचन्द्र शुक्ल (चिंतामनि प्र० भा० पृष्ठ १४१)

स्रष्टाओं ने अपने मनोनीत विषय को हृदयग्राही स्थल पर पाया और फिर कविहृदय अपने हृदयोद्गारों को प्रकाश में लाने के लिये गा उठा, उनका यह स्वान्तःसुखाय गान साहित्य की अमर-निधि है।

शृंगाररस की प्रधानता सर्वमान्य है, किन्तु इस शृंगाररस-के मध्य भी विप्रलम्भ या वियोग शृंगार की सर्वमान्यता निर्विवाद रही है। किसी परिचित व्यक्ति के आनंद में हम भी सहयोगी हो जाते हैं। अपरिचित की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता, किंतु विपद्ग्रस्त व्यक्ति की विपदा बहुधा मानव-हृदय को विचलित कर देती है। यही वह परिस्थिति है जहाँ राजा, रंक, धनी, मानी प्रत्येक के मनोभावों में साम्य पाया जाता है, यहाँ तक कि वियोगी की मनःस्थिति का साम्य चेतन-जगत् की परिधि को पार कर जाता है और उसे मानवेतर प्राणी तथा जड़ जगत् अपनी ही भावनानुरञ्जित दृष्टिगोचर होता है। ऐसी ही परिस्थितियों में कवि का अहंभाव तिरोहित होकर उसकी अनुभूति और वर्णित विषय में तादात्म्य हो जाता है और वह भूल जाता है कि वह कोई विषयोद्घाटन कर रहा है; प्रत्युत उसे ऐसा ज्ञात होता है मानो वह अपनी ही वेदना, अपनी ही व्यथा प्रकाश में ला रहा है। महाकवि भवभूति ने सत्य ही साहित्य को "आत्मा की कला" कहा है। तात्पर्य यह कि जब साहित्यकार ऐसी काव्य-सृष्टि कर दे जो सम्पर्क होते ही अवर्णनीय आनन्द को उल्लसित कर दे तथा जहाँ मूर्तिमान् दुःख और करुणा भी आनन्द में ही परिणत हो जायँ वह सब 'आत्मा की ही कला' है। कवि अपनी आत्म-व्यथा विवृति में अमर हो जाता है, उसका गान सबका गान हो जाता है। जायसी अपने "नागमती-विरह-वर्णन" में अमर हैं, उनकी अनुभूति प्रत्येक साधारण गृहस्थ विरहिणी नारी की अनुभूति है।

उक्त सात्त्विकोद्रेक की अवस्था में मनुष्य अपने चतुर्दिक् विस्तृत विश्व और प्रकृति को अपनी ही भावनाओं से अनुरञ्जित देखता है। यदि वह सुखी होता है तो उसे समस्त विश्व आनन्दमय दिखाई देता है। यदि वह आकुल है तो उसे धूलि तक भस्मावशेष विभूति ही दृष्टिगोचर होती है। इसी वेदना से पीड़ित होकर कविवर कालिदास ने "मेघदूत" की रचना की, और "चन्द्रदूत" लोकगीतों का जीवन ही बन बैठा। मनुष्य की इस वृत्ति पर समय कोई प्रभाव न डाल सका और आधुनिक युग में भी "गन्धवाह" को

सन्देशवाहक बनना पड़ा। ऐसी ही काव्य-रूढ़ियों में चन्द्र, चकोर, चातक और मेघ तथा चक्रवाक युग्म प्रसिद्ध हैं, किन्तु भ्रमर जिसे आधुनिक साहित्य-काल के पूर्व प्रकृति-वर्णन में गौण स्थान प्राप्त था, वह कब और कैसे उपालम्भ का पात्र बन बैठा, विचारणीय है। इस भ्रमर को प्रतीक मानकर ही क्यों ऐसी सरस संवेदनात्मक काव्यकलापूर्ण गीतात्मक रचना प्रारम्भ हो गई जिसकी परम्परा आज तक निर्बाध्य है।

साहित्य भी विज्ञान की भाँति वातावरण के प्रति प्रतिक्रिया है। साहित्य का उद्देश्य आवेष्टन के प्रति विशेष सम्बन्ध स्थापित करना है। विज्ञान केवल भौतिक जगत् का आश्रय लेकर विभिन्न वस्तुओं में कार्य-कारण-सम्बन्ध की स्थापना करता है जब कि साहित्य मानव की विस्तृत समस्याओं को, उनसे उत्पन्न शुभ और अशुभ, सुन्दर-असुन्दर तत्त्वों को चुनकर उनका समाधान करता है तथा मानव का मानव-जीवन के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है। निष्कर्ष यह है कि साहित्यिक कृतियों से सम्बन्धित खोजों में इतिहास से यथेष्ट सहायता मिल सकती है।

"भ्रमरगीत" का उद्गमस्थल भागवत है। भागवत में वर्णित इस गोपी-उद्धव-संवादवाले भ्रमरगीत प्रसंग का उद्देश्य आध्यात्मिक ज्ञात होता है तथापि लौकिक भावनाओं का भी आभास उसमें प्रत्यक्ष है। कृष्ण का उद्धव को एकान्त में बुलाकर उनसे गोकुल जाकर संदेश कहने के लिये आग्रह करना तथा उद्धव के वचनों को सुनकर यशोदा का प्रेमविह्वल हो जाना इस बात के साक्षी हैं।

> यशोदा वर्ण्यमानानि पुत्रस्य चरितानि च।
> शृण्वन्त्य श्रूण्यवास्राक्षीत् स्नेहस्नुत पयोधरा॥

इसके अतिरिक्त भ्रमरगीत की उत्पत्ति के सम्बन्ध में गोपियों की यह पंक्ति "पुम्भिः स्त्रीषु कृतायद्वत सुमनस्विव षड्पदैः" भी कल्पना को यथेष्ट प्रश्रय देती है। उद्धव को आया देख गोपियों के मन में स्वतः भ्रमर की लोभी वृत्ति का स्मरण हो आता है। इस प्रसंग से स्पष्ट है कि भ्रमर की रसलोलुपता प्रेम का प्रतीक नहीं है। वह पुष्प को प्रेम नहीं करता, किन्तु उसके मकरन्द का लोभी अवश्य है। अन्य स्थलों पर भी जहाँ प्रकृति-वर्णन के अन्तर्गत हम

भ्रमर का दर्शन पाते हैं, वहाँ भी उसकी यही लोभी वृत्ति की प्रधानता रहती है। तुलसीदासजी ने भी—

"तहाँ जाय देखी बन सोभा
गुञ्जत चंचरीक मधु लोभा"

में भ्रमर की इसी वृत्ति का परिचय दिया है। कालिदास ने महर्षि कण्व के आश्रम की लताओं, सुमन पादपों के वर्णन के साथ ही भ्रमर का भी वर्णन किया है। शकुन्तला की मुखश्री पर उसका मोहित होना कविकल्पना का हेतु होने के साथ ही भ्रमर की लोलुपता का भी परिचायक है। कवि नवीन कृत "नेहनिदान" भी भ्रमर की इसी वृत्ति को सूचित करता है। इस छोटी सी पुस्तिका में भ्रमर सम्बन्धी अन्योक्तियाँ हैं। माधवानल कामकन्दला में भी नृत्य करती हुई कामकंदला के समीप भ्रमर का आभास होना उसकी इसी अस्थिर वृत्ति का परिचायक है। ऐसा ज्ञात होता है कि भागवतकार की कल्पना का आधार मध्य-युग की नारी का मूक रुदन ही है। कवि ने चिरकाल से तिरस्कृत उस नारी की व्यथा को ही इस आध्यात्मिक अवगुण्ठन में मूर्त रूप देने का प्रयास किया है। एक पुरुष के साथ अनेक स्त्रियों का सम्बन्ध प्राचीन काल से धर्मसम्मत माना जाता था। उस युग में अन्तःपुरों तथा रनिवासों में अनेक नारियाँ अपनी चिर-संगिनी मूक वेदना का अवलम्ब ले जीवन-यापन कर रही होंगी। नारी के इस बंधन और विवशता के प्रति कवि यथेष्ट अनुभवशील रहा होगा तथा ऐसी ही परि-स्थिति में उसने पुष्प पर भँवरे को गुनगुनाते देखा, कवि की संवेदना को यह व्यापार परिचित लगा, उसकी कल्पना को आधार मिल गया और रनिवास की मूक वेदना भ्रमर को उपालम्भ का विषय चुनकर मुखरित हो उठी किन्तु इस उपालम्भ में कोमलता और विवशता दोनों के ही दर्शन होते हैं। यह उस समय की परिस्थिति देखते हुए स्वाभाविक ही था। श्रीमद्‌भागवत से आरम्भ होनेवाले भ्रमरगीत में उपालम्भ की व्यञ्जना प्रेम की अभिव्यक्ति ही है। गोपियों की कुब्जा के प्रति ईर्षा भावना आगे चलकर प्रेम की प्रगाढ़ता में ही विमग्न हो जाती है। समय के निरन्तर प्रत्यावर्तन से यह धारा छिपी या लुप्त नहीं हुई, अपितु अपनी परि-स्थितियों से प्रभावित होती हुई आज तक उतनी ही सजीव है।

भ्रमर को उपालम्भ का पात्र मानकर ही इस परम्परा का जन्म हुआ।

धार्मिक काव्य में भ्रमर का प्रयोग प्रतीक के अर्थ में हुआ है। कृष्ण और उद्धव दोनों ही श्यामवर्ण के हैं। यह रूपसाम्य भी भ्रमर को प्रतीक चुनने में सहायक हुआ। कृष्ण का व्यवहार गोपियों के प्रति उतना ही निष्ठुर है जितना भ्रमर का कोमल सुमनों के प्रति। इस व्यवहार साम्य के अतिरिक्त भ्रमर की अस्पष्ट गुनगुन कृष्ण के निर्गुण संदेश और उद्धव के निर्गुणोपदेश के समान ही है। इन सब समानताओं का आधार लेकर ही भ्रमर उपालम्भ का पात्र बना। यह प्रसंग, जिसमें उद्धव-गोपी-संवाद ही वर्णित है, "भ्रमरगीत" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कुछ कवियों ने उद्धव और गोपी-संवाद के मध्य भ्रमर का प्रवेश कराया है और फिर उसके माध्यम से गोपियों ने कृष्ण को उलाहना देना प्रारम्भ किया है किन्तु बाद में भ्रमर उद्धव और कृष्ण की सम्मिलित भावना का प्रतीक बन गया और गोपियाँ केवल मधुकर, मधुप या भ्रमर आदि नामों का उल्लेख मात्र करके अपनी विरह-व्यथा कहना प्रारम्भ कर देती हैं। यहाँ भ्रमर सम्बन्धी भावना और उसका प्रतीकार्थ प्रसंग की भूमिका स्वरूप ही उपस्थित होता है। भ्रमर का प्रसंग उपालम्भ की जिस भावना से आरम्भ हुआ है वह सदा ही उसी रूप में चली आ रही है। यह प्रसंग अपनी अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों ही दृष्टिकोणों से "भ्रमरगीत" है। यही कारण है कि कृष्ण-काव्य के उस स्थल को, जिसमें गोपी-विरह उद्धव के प्रत्युत्तर में प्रकट हुआ है, हम "भ्रमरगीत" के नाम से पुकारते हैं।

छन्दों की दृष्टि से भी इस प्रसंग का "भ्रमरगीत" नाम सार्थक ही है। भ्रमरगीत की रचना को गीतात्मक मुक्तक रचना कहना चाहिये, मुक्तक वह स्वच्छन्द रचना है जिसमें रस का उद्रेक करने के लिये अनुबन्ध की आवश्यकता नहीं। मुक्तक काव्य में एक ही पद्य में रस की पूर्ण अभिव्यक्ति अथवा किसी विषय का सांगोपांग चित्रण होता है। प्रत्येक पद अपने आप में पूर्ण स्वतन्त्र होता है। उसे समझने में पूर्वापर-प्रसंग की आवश्यकता नहीं होती। रसचर्वण में समर्थ एक पद को ही मुक्तक कहते हैं। भ्रमरगीत-गप्रसं में लिखे गये पद रसचर्वण में समर्थ होते हुए भी पूर्ण रूप से मुक्तक नहीं हैं। उनमें एक कथाधारा का स्रोत प्रवाहित है यद्यपि वह पूर्ण प्रबन्ध रूप में नहीं। इस प्रसंग को भावप्रधान प्रबन्धात्मक मुक्तक काव्य कहना ही अधिक उपयुक्त होगा।

मुक्तक कविता के अन्तर्गत कुछ नीति, उपदेशयुक्त साधारण कविता को छोड़कर प्रायः गीति भावना प्रधान रहती है। गीति भावना की विशेषता को हम दो रूपों में देख सकते हैं। प्रथम उसका गेयत्व है, द्वितीय उसका स्वानुभूति का भाव। अतः गेयत्व और आत्मानुभूति जिस कविता में एक साथ पाई जाती है उसी को गीतिकाव्य जानना चाहिये। उपर्युक्त विशेषतायें यथार्थतः उसकी आभ्यन्तर और बाह्य विशेषतायें हैं। गीति का गेयत्व भी यथार्थतः स्वानुभूति पर ही अवलम्बित है। अनुभूति की तीव्रता में कवि अनायास ही गा उठता है। गीतिकाव्य में पुनरुक्तियाँ भी स्वाभाविक हैं। किसी भी भाव का अनुभव हम बार-बार करना चाहते हैं। बार-बार कहे जाने पर आनन्द देना गान की विशेषता है। साधारण बात की पुनरावृत्ति में उतना आनन्द नहीं आता जितना किसी गीतात्मक भावपूर्ण पंक्ति का। स्वर की दीर्घता और संक्षिप्ति अनुभूतियों को उकसाती है। कविता की मुख्य प्रेरणा स्वानुभूति है और वही जब स्वाभाविक गतिमय और गेय स्वर-लहरी में प्रकट होती है तो गीति हो जाती है। इसी स्वानुभूति की प्रधानता होने के कारण ही कबीर तथा निर्गुण साधकों को कवि बनने का उद्देश्य न रहते हुए भी कवि का गौरव मिला। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है जिसे हम गीतिकाव्य कहते हैं वह थोड़ी सी पंक्तियों में जरा से भाव का विकास होता है जिस प्रकार विद्यापति का यह पदः—

"भरा बादर, माह भादर, शून्य मन्दिर मोर" [बादल भरे हुए हैं, भादों का महीना है, मेरा मन्दिर सूना है]

गीतिकाव्य हमारे मन में बहुत दिनों का संचित अव्यक्त भाव होता है जो किसी सुयोग का आश्रय लेकर फूट उठता है। भाद्रमास में भरे बादलों में सूने घर की वेदना कितने लोगों के हृदय में कितने दिनों तक चुपचाप चक्कर लगाती रही है। ज्यों ही ठीक छन्द में यह बात अभिव्यक्त हो गई त्यों ही सबके हृदय की यह वेदना मूर्ति धारण करके स्पष्ट हो गई।

इस प्रकार के गीतों का प्रचलन कोई नई वस्तु नहीं है, मानवहृदय की अनुभूति समय-समय पर गीतों के रूप में अभिव्यक्त होती रही है। इन गीतों के भी दो प्रकार होते हैं। एक तो लोकव्यावहारिक या लोकगीत और

दूसरे साहित्यिक । "भ्रमरगीत" साहित्यिक गीत की परम्परा में आता है यद्यपि सामवेद, भागवत के पंचगीत तथा पौराणिक स्तोत्रों में गेयत्व पूर्णरूप से विद्यमान है किन्तु हिंदी को साहित्यिक. गीतिकाव्य की प्रेरणा देनेवाले पीयूषवर्षी कवि जयदेव ही हैं। संस्कृत के इस मधुर भाव के उपासक कवि का पूर्ण प्रभाव मैथिल कोकिल "विद्यापति" पर पड़ा तथा इस धारा की पूर्णता हमें सूरदास के काव्य में प्राप्त हुई। उनकी तथा उनके समकालीन भक्त कवियों की रचनायें अधिकांश कीर्तन-गायन के लिये ही लिखी गई थी उन भक्त कवियों को कवि कहलाने की चाह नहीं थी। कविता ही उनकी साधना थी और इष्ट देव का गुणगान ही उनका ध्येय था। उनका काव्य स्वान्तः-सुखाय तथा स्वानुभूति-प्रकाशक था। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में तुलसीदासजी की भाँति प्रबन्धात्मकता का अभाव है।

धार्मिक युग के बाद शृंगारिक काल में भी इस प्रसंग पर कवित्त लिखे गये। इस काल में काव्य के बाह्य उपादानों को प्राधान्य मिला। ग्रन्थों की रचना आश्रयदाता को प्रसन्न करने के लिये की जाती थी जिसका विषय अलंकारशास्त्र या नायिकाभेद होता था। ऐसे समय में स्वतन्त्र भ्रमरगीतों की रचना तो नहीं हो सकी किन्तु कुछ कवित्त, बरवै या पद कभी अलंकारों के उदाहरणस्वरूप और कभी रसनिरूपण के अन्तर्गत इस सम्बन्ध पर भी लिख दिये जाते थे। ऐसे कवियों के अन्तर्गत रहीम, मतिराम, पद्माकर, सेनापति, देव, आलम, ठाकुर, वीरबल और दास आदि कवि आते हैं। देव के कवित्तों में प्रसंगानुसार वर्णन प्राप्त होता है। इस काल में भी कुछ कवि हैं जिन्होंने भ्रमरगीत की क्रमबद्ध रचना की है। उनमें से प्रमुख रसनायककृत "विरहविलास", रसरासि कृत "रसिकपच्चीसी", ग्वाल कवि कृत "गोपीपच्चीसी" तथा ब्रजनिधि कृत "प्रीतिपच्चीसी" हैं। इन भ्रमरगीतों के सम्बन्ध में एक और विशेष बात यह है कि यह पदों में न लिखे जाकर कवित्त छन्द में लिखे गये हैं। शृंगार-प्रियता की यह भावना इस परम्परा को समाप्त न कर सकी।

आधुनिक युग में पुनः भ्रमरगीतों की रचना प्रारम्भ हुई। इन भ्रमरगीतों पर सामयिक परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ा। आधुनिक भ्रमरगीतकारों में जगन्नाथदास रत्नाकर का "उद्धवशा तक", सत्यनारायण कविरत्नजी का

"भ्रमरदूत", डा० रामशंकर शुक्ल "रसाल" का "उद्धव-गोपी-संवाद", रीवाँ-नरेश रघुराजसिंह की रचनायें आती हैं। इनके अतिरिक्त मैथिलीशरण गुप्त ने "द्वापर" में तथा अयोध्यासिंह उपाध्याय ने इस प्रसंग पर "प्रियप्रवास" में लिखा है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने इस सम्बन्ध में फुटकल छन्दों की रचना की है। कन्हैयालाल पोद्दार का "गोपी-गीत" भी परिचित है।

यह गीतात्मक मुक्तक काव्यधारा पौराणिक युग से निःसृत होकर अद्यावधि अबाध रूप से प्रवाहित है। समय, शैली और परिस्थिति के अनुसार इसके स्वरूप में अवश्य कुछ परिवर्तन होते गये हैं किन्तु अन्तर्गत भावना का रूप वही रहा है। यह परम्परा अनेक महान् कवियों के द्वारा पोषित है तथा किन-किन अन्य कवियों की सेवा का सौभाग्य इसे प्राप्त होगा यह भविष्य के गर्भ में है।

भ्रमर-गीत-रचयिता तथा उनके ग्रन्थ

भँवर-गीत नामक प्रसंग का प्रथम समावेश संस्कृत भाषा के माध्यम से भागवत में हुआ। उसका हिन्दी में प्रतिपादन अष्टछाप के प्रथम संगीतज्ञ, कलाकार, भक्त तथा कवि सूरदास के काव्य में हुआ। हिन्दी साहित्य का ऐसा कोई काल नहीं, जिसमें इस प्रसंग पर किसी न किसी कवि की लेखनी तत्पर न हुई हो। उन विभिन्न काल के कवियों का परिचय भँवर-गीत के अध्ययन-कर्ता के लिए जिज्ञासा का विषय हो जाता है अतः यहाँ इन कवियों की जीवनी तथा ग्रन्थों का परिचय देना आवश्यक है।

भक्तकालीन कवि

भक्त कवियों ने अहंभाव तथा स्वव्यक्तित्व प्राधान्य को कोई महत्त्व नहीं दिया। वे अपने इष्टदेव की उपासना तथा गुणगान में सर्वथा आत्म-विस्मृत तथा तल्लीन थे। निदान, उन्हें अपना परिचय देना नितान्त अभीष्ट न था। जिन कवियों की मानसिक वृत्ति लौकिक थी उन्होंने भी आत्म-चरित्र थोड़ा ही लिखा है। इन भक्त कवियों की जीवनी तथा अध्ययन की आधारभूत सामग्री के लिये निम्नांकित प्रमाण हैं—

(१) आत्मविषयात्मक उल्लेख।

(२) प्राचीन वाह्य आधार। (उस समय के साहित्यिक, ऐतिहासिक तथा धार्मिक ग्रन्थों में कवि या कवि की रचना का उल्लेख)

(३) आधुनिक वाह्य आधार। (आधुनिक आलोचना पुस्तकों तथा साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में कवि का उल्लेख) यह सामग्री गौण है, केवल इस सामग्री का आधार लेकर कवि सम्बन्धी कोई निर्णय नहीं करना चाहिये।

उपरोक्त प्रमाणों को आधार मानकर आलोच्य कवियों का परिचय देने का प्रयास नीचे की पंक्तियों में किया जाता है।

सूरदास

प्राचीन वाह्य आधारों में सर्वमान्य "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" है गोकुलनाथजी की मूलवार्ता में सूरदासजी के जन्मस्थान के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा है। श्रीहरिरायजी कृत भावप्रकाश वाली "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" में लिखा है कि सूरदासजी का जन्म दिल्ली के निकट ब्रज की ओर स्थित "सीही" नामक ग्राम में हुआ, इसके अतिरिक्त जनश्रुति के द्वारा भी सूरदासजी का जन्म-स्थान सीही ही निश्चित होता है। कुछ विद्वानों ने आपकी जन्मभूमि "रुनकता" ग्राम भी दी है। डा० दीनदयालुजी गुप्त इस निर्णय को भ्रमपूर्ण मानते हैं, उन्होंने स्वयं वहाँ जाकर इस बात का पता लगाया था। रुनकता में सूरदासजी के जन्मस्थान होने की कोई चर्चा तक नहीं है, किन्तु ऐसी प्रसिद्धि अवश्य है कि सूरदासजी गऊघाट पर रहते थे। यह बात "हरिराय"जी कृत भावप्रकाश वाली चौरासी वैष्णव की वार्ता से भी पुष्टि पाती है। उसके अनुसार सूरदासजी अपने माता-पिता से रूठकर सीही गाँव से चार कोस की दूरी पर अट्ठारह वर्ष की आयु तक रहे। सूर की अन्तर्दृष्टि तीव्र थी, उन्होंने यहीं पर एक जमींदार की खोई हुई गायों का पता दिया। इसी घटना के पश्चात् उनकी ख्याति बढ़ने लगी और वे वैभवसम्पन्न हो गये। कुछ दिनों बाद उनके हृदय में अचानक वैराग्य का भाव उत्पन्न हुआ और वे अपने समस्त वैभव को त्यागकर ब्रजधाम की ओर अग्रसर हुए। सूरदासजी इसके पहले ही स्वामी की पदवी प्राप्त कर चुके थे निदान उनके प्रस्थान के समय साथ में कुछ शिष्य भी थे। वे मथुरा और आगरा के मध्य गऊघाट पर रहे जहाँ वे वल्लभाचार्यजी के सम्पर्क में आये। वल्लभसम्प्रदाय में दीक्षित होने तक वे यहीं गऊघाट पर रहे। इसके बाद सूरदासजी श्रीनाथजी के मन्दिर में कीर्तन आदि में संलग्न रहने लगे। वे कभी ब्रजमण्डल छोड़ कर बाहर गये हों, ऐसा कोई उल्लेख कहीं नहीं मिलता। अकबर बादशाह से उनकी भेंट यहीं हुई थी।

श्रीहरिरायजी कृत चौरासी वैष्णव की वार्ता तथा "वल्लभदिग्विजय" के अनुसार सूरदासजी का सारस्वत ब्राह्मण होना निश्चित होता है। यद्यपि अन्य सर्वस्व त्यागी भक्त कवियों की भाँति सूरदासजी भी अपनी कोई जाति

का न होना ही सिद्ध करते हैं। यह सत्य भी है क्योंकि वार्ताओं के द्वारा ज्ञात होता है कि वल्लभसम्प्रदाय में प्रत्येक सम्प्रदाय के लोग दीक्षित हुआ करते थे और उनमें जाति पाँति का कोई भेद न था।

सूरदासजी की "साहित्यलहरी" के दृष्टि-कूट पदों में एक पद उनकी जाति और वंश का परिचायक बताया जाता है। उसके अनुसार वे चंद कवि के वंशज होते हैं। परन्तु इस पद को मिश्रबंधुओं, रामचन्द्र शुक्ल आदि विद्वानों ने प्रामाणिक नहीं माना है। डा० दीनदयालुजी गुप्त ने भी अपनी पुस्तक "अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय" में इसके न मानने के सम्यक् कारण देते हुए अपने मत की पुष्टि की है। अतः ऐसी संदिग्ध सामग्री के आधार पर कोई निर्णय ठीक न होगा। निर्विरोध मान्य सामग्रियों द्वारा उनका सारस्वत ब्राह्मण होना ही अधिक ठहरता है। हरिरायजी की वार्ता के अनुसार ये जन्मान्ध थे, अपने माता-पिता की उपेक्षा तथा निर्धनता के कारण इन्होंने अपना घरद्वार छोड़ दिया तथा अपनी दिव्य दृष्टि के कारण कुछ ही समय में विख्यात हो गये। इन्होंने विवाह किया हो, ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता। आत्मग्लानि के पदों में सूर ने सांसारिक मायामोह के साथ साथ त्रासुख आदि की निन्दा की है, उसे आत्मचारित्रिक न कहकर मानसिक वृत्तियों के प्रति चेतावनी या प्रबोधन ही कह सकते हैं। वे जन्मान्ध थे अथवा बाद में अन्धे हुए, यह प्रश्न भी विवादग्रस्त है। कुछ विद्वान् उन्हें जन्मोन्ध मानते हैं और कुछ उन्हें बाद में अन्धा हुआ बताते हैं। वार्ताकार ने उनके जन्मान्ध होने की पुष्टि की है। सम्भव है कि प्रभु की महत्ता और अनुकम्पा प्रदर्शित करने के हेतु ही उन्होंने ऐसा किया हो। बाह्य प्रमाण उन्हें जन्मान्ध बताते हैं किंतु उनकी बालक्रीड़ाओं, मनोभावों और चेष्टाओं के चित्रण उनके जन्मान्ध होने में शंका उपस्थित कर देते हैं। अपने रचनाकाल में सूर का अन्धा होना प्रमाणित है। अतः यही ज्ञात होता है कि उनकी बुद्धि अति तीव्र और अलौकिक थी। फलस्वरूप वे अपनी कल्पनाशक्ति ही के सहारे अपने बचपन में प्राप्त किये अनुभव के आधार पर ऐसे सजीव चित्र प्रस्तुत कर सके। उनके वृद्धावस्था में अन्धे होने का कथन तो कभी मान्य नहीं हो सकता।

सूरदासजी के काव्य का अध्ययन करने के बाद प्रश्न उठता है कि

सूरदासजी ने ऐसी पूर्ण शिक्षा कहाँ और कब पाई ? इस प्रश्न का उत्तर भी उनकी ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा ही हो सकती है । वल्लभसम्प्रदाय में आने के पूर्व ही सूरदासजी की प्रसिद्धि विनय के पद रचने, उन्हें गाने तथा वाक्‌सिद्ध होने के कारण हो चुकी थी। उनकी शिक्षा सत्संग की थी। वार्ताकारों ने उनके सहस्रावधि पद तथा लक्षावधि पद बनाने के सम्बन्ध में लिखा है। सूर ने स्वयम् एक लक्ष पद रचने के विषय में कहा है। सूर पूर्ण वैरागी, भक्त तथा संसार के सुख-दुःख से परे थे। कीर्तन-सेवा में रत अपने इष्ट कृष्णचन्द्र की भावभक्ति, मानसी सेवा में इतने तन्मय हो गये थे कि उनके लिये संसार की सम्पदा तुच्छ थी। वे निडर और स्पष्ट थे, तभी तो अकबर की राजाज्ञा का उल्लंघन कर सके। वह वल्लभमार्ग के पूर्ण ज्ञाता थे। भगवान् की लीला और उनके माहात्म्य को छोड़कर सूर ने किसी लौकिक पुरुष का गान नहीं किया। गोसाईं बिट्ठलनाथजी ने इनको "पुष्टिमार्ग का जहाज" कहकर, आदर किया है।

जीवन पर्यन्त कृष्ण की लीला-गान करने के पश्चात् अंतकाल में "युगल-मूर्ति"* में ध्यान लगाये सूरदासजी परम धाम को सिधारे। उस समय उनकी अवस्था १०३ वर्ष की थी। सं० १५३५ वैशाख सुदी पंचमी को जन्म लेकर सूरदासजी लगभग सं० १६३८ अथवा १६३९ तक जीवित रहे।

सूरदासजी ने कृष्ण की सम्पूर्ण लीलाओं का भागवत के अनुसार गान किया। उनका चित्त कृष्ण की बाललीला में अधिक रमा है। वह अपने भक्ति पदों की रचना तथा गान में तन्मय हो जाते थे, तन्मयता की प्रवृत्ति ही कवि-प्रतिभा की सर्वोत्कृष्टता है। नेत्रहीन होने तथा शिक्षा-साधन-विहीन होने पर

---

* वल्लभाचार्यजी श्रीकृष्ण की बाल-लीलोपासना के प्रवर्तक थे। उपासना में श्रीकृष्ण के साथ राधा का समावेश विट्ठलाचार्यजी ने किया था। सूरदासजी वल्लभाचार्यजी के शिष्य थे। अतः उनका युगल-मूर्ति में ध्यानावस्थित होकर शरीर-त्याग करने के विचार से कुछ लोगों का विरोध हो सकता है; किन्तु उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर उनका 'खञ्जन नैन रूप रस माते' पद गाते हुए प्राण त्याग करना प्रसिद्ध है। अतः सिद्ध यही होता है कि वे युगल-मूर्ति का ध्यान करते हुए ही परमधाम को सिधारे।

भी वे अमर साहित्य की रचना कर सके, यह बात विलक्षण है। पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "आचार्यों की छाप लगी, आठ वीणायें श्रीकृष्ण की प्रेम-लीला का कीर्तन कर उठीं, जिनमें सबसे ऊँची, सुरीली और मधुर झनकार अन्धे कवि सूरदासजी की वाणी की थी" ※। इसी प्रकार श्यामसुंदरदासजी ने भी "हिन्दी भाषा और साहित्य" में कहा है "जीवन के अपेक्षाकृत निकटवर्ती क्षेत्र को लेकर उसमें अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखा देने में सूर की सफलता अद्वितीय है। सूक्ष्मदर्शिता में सूर अपना जोड़ नहीं रखते।" × हिन्दी के सर्वोत्कृष्ट कवियों में सूर की गणना उचित ही है।

परमानन्ददास

अष्टछाप के कवियों में परमानन्ददास का स्थान सूरदासजी के बाद ही है। इनकी जीवनी का परिचय भी चौरासी वैष्णवन की वार्ता तथा भक्तमाल के द्वारा ही ज्ञात होता है। कहा जाता है कि परमानन्ददासजी वल्भाचार्यजी से पन्द्रह वर्ष छोटे थे तथा सूरदासजी वल्लभाचार्यजी के समवयस्क थे। सूरदासजी की जन्मतिथि अन्तःसाक्ष्यों तथा जन्मतिथि मानने के दिन से संवत् १५३५ वि० वैशाख सुदी पंचमी पड़ती है अस्तु परमानन्ददासजी की जन्मतिथि १५५० वि० हुई। आपका जन्म कन्नौज में हुआ था। ये एक निर्धन ब्राह्मणकुल में जन्मे। कहते हैं कि इनके जन्म के दिन एक सेठ ने माता-पिता को बहुत सा धन दिया जिससे उनको परम आनन्द हुआ और उन्होंने इसी कारण पुत्र का नाम भी परमानन्ददास रख दिया। बचपन शांति-पूर्वक बीता। किन्तु एक बार अकाल पड़ने पर अधिकारियों ने इनके माता-पिता का धन छीन लिया और ये लोग पुनः निर्धन हो गये। परमानन्दजी प्रारम्भ से ही विरक्त-प्रवृत्ति के थे अतः माता-पिता से आपने ईश्वरोपासना में ध्यान लगाने का निवेदन किया और स्वयं जीविका-पालन के हेतु धनोपार्जन का विश्वास दिया। फिर भी इनके माता-पिता धन-लिप्सा में प्रथम पूर्व की ओर गये और बाद में दक्षिण देश गये जहाँ से फिर उनका कोई समाचार नहीं प्राप्त हो सका। कन्नौज में ही परमानन्ददासजी रह गये जहाँ पर वे कीर्तन-

※ अमरगीतसार, प्रथम संस्करण, भूमिका पृ० २।

× हिन्दी भाषा और साहित्य, सं० १९९४

मण्डली में अपने पद गाया और बनाया करते थे। वार्ताकार के अनुसार वे अच्छे संगीतज्ञ थे। उन्होंने अपनी प्रतिभा तथा गाने के भाव को ईश्वरोन्मुख कर दिया। वल्लभसम्प्रदाय में दीक्षित होने के पूर्व ही वे एक मंडली के स्वामी हो गये थे। ये एक बार मकर-स्नान के हेतु प्रयाग गये जिन दिनों वल्लभाचार्यजी अड़ैल में रहा करते थे। ग्रीष्म काल होने के कारण परमानन्दजी विरह के ही गीत वहाँ गाते रहे और वल्लभाचार्यजी से मिलने पर भी इन्होंने विरह का ही गीत गाया। परमानन्दजी बाललीला से अपरिचित थे अतः वल्लभाचार्यजी के कहने पर भी बाललीला से सम्बन्धित कोई पद न गा सके। वल्लभ-शरण में जाने की तिथि ज्येष्ठ शुक्ल द्वादशी संवत् १५७६ वि० है। परमानन्दजी भी वहीं अड़ैल में बस कर नवनीतप्रियजी के समस्त कीर्तन गाते रहे। कुछ दिनों बाद ये गोकुल पहुँचे जहाँ बाललीला के पदों का गान किया और फिर गोवर्धनजी के दर्शन कर वहीं अपना समय भजन-कीर्तन में व्यतीत करने लगे।

परमानन्ददासजी बड़े त्यागी और उदार-चरित्र व्यक्ति थे। वे कलाप्रेमी तथा दृढ़संकल्पी भी थे। संगीत और काव्य में विशेष प्रेम रखते हुए वे स्वभाव से बड़े विनीत तथा नम्र थे और सदा अपने को भगवान् के दासों का भी दास समझते रहे। वार्ताकार तथा भक्तमाल के रचयिता दोनों ने ही परमानन्ददास के काव्यकीर्तन तथा भक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। बिट्ठलनाथजी ने तो इन्हें सूरदासजी के बराबर ही सम्मान प्रदान किया है। इन्होंने कृष्ण के बाल, पौगण्ड और किशोर लीलाओं का भक्तिभाव से पूर्ण वर्णन किया है तथा बाललीला के भी अनेक पद लिखे हैं। परमानन्ददासजी की भक्ति में बाल-भाव, कान्ता भाव, सखा-सखी भाव तथा दास-भाव का भी परिचय पूर्ण रूप से प्राप्त होता है। अपने अन्त समय तक ये गोवर्धनदासजी की सेवा में रहे। एक बार जन्माष्टमी उत्सव में आपने गोकुल में नवनीतप्रियजी के मंदिर में जाकर अनेक पद बधाई के गाये तथा नवमी को दधिकाँदो के दिन आनन्द-मग्न हो वहीं नाचने लगे। तत्पश्चात् गोवर्धननाथजी की सेवा में आकर भावमग्न हो गये। चेत आने पर अपने निवास-स्थान पर गये जहाँ आपने मौन धारण कर लिया। शांति प्रदान करने के हेतु विट्ठलनाथ-जी पहुँचे। शांति प्राप्त कर "प्रीति तो नन्द-नन्दन सों कीजे" पद परमानन्द-

दासजी* ने गाया। एक वैष्णव के साधनमार्ग पूछने पर उन्होंने आचार्यजी, विट्ठलनाथजी तथा उनके सातों बालकों की चरण-वन्दना करते हुए एक पद गाया। अन्त समय सूरदासजी की ही भाँति युगल-लीला में ध्यान लगाये आपने ने संवत् १६४० वि० में शरीर त्याग किया। *

नन्ददास

भक्तमाल तथा दो-सौ-बावन-वार्ता के अनुसार नन्ददासजी का रामपुर ग्राम निवासी होना माना जाता है। यह रामपुर ग्राम गोकुल-मथुरा से पूर्व की ओर कहीं स्थित था। आपकी जन्मतिथि के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं। किन्तु इस बात का प्रमाण अवश्य मिलता है कि गोसाईंजी ने इन्हें सूरदास-जी के सत्संग में रक्खा था, तथा "साहित्य-लहरी" की रचना इनके अहंकार तथा मानमर्दन के हेतु हुई थी। ×

साहित्यलहरी का रचनाकाल सं० १६१७ वि० है, अतः सं० १६१६ में नन्ददासजी का सूरदासजी के सत्संग में आना मान्य प्रतीत होता है। वार्ताकार का कथन है कि विवाह के पूर्व नन्ददासजी की प्रवृत्ति लौकिक विषयों की ओर अधिक थी और वे काशी में अपने भाई तुलसीदासजी के साथ रहा करते थे। वार्ता में उनके विवाह या गृहस्थ जीवन के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा है। डा० दीनदयालुजी गुप्त का अनुमान है कि नन्ददासजी भी अपनी

---

* (सातों बालकों की बधाई वाले पद में कवि ने श्रीघनश्यामदासजी के विषय में इस प्रकार लिखा है "श्रीघनश्याम ! पूरनकाम पोथी में ध्यान" × × × दत्त-चित्त होकर पढ़नेवाले बालक की आयु नौ या दस वर्ष की अवश्य होनी चाहिये। अतः सिद्ध होता है कि परमानंददासजी ने इस पद की रचना श्रीघनश्यामदासजी के जन्म के नौ या दस वर्ष उपरान्त सं० १६२८ वि० के लगभग की) ×× परमानंद-दासजी की मृत्यु कुम्भनदासजी के बाद हुई। कुम्भनदासजी का निधन सं० १६३९ वि० है, अतः कवि का निधन सं० १६४० में हुआ होगा—'अष्टछाप तथा वल्लभ-सम्प्रदाय' डा० दीनदयालुजी गुप्त। पृ० २३०।

× साहित्यलहरी ग्रन्थ में सूरदासजी का एक आत्मविषयात्मक पद मिलता है—
"मुनि पुनि रसन के रस लेख, दसन गौरीनंद को लिखि सुबल सम्बत् पेख।
नंदनंदन मास छै ते हीन त्रितिया वार, नन्दनन्दन जनमते हैं बान सुख आगार।

पत्नी से विरक्त होकर काशी में अर्ध-वैराग्य की अवस्था में रहा करते होंगे। यदि यह बात मान ली जाय तो नन्ददासजी उस समय २५ या २६ वर्ष के रहे होंगे और इससे कवि का जन्मकाल लगभग सं० १५९० वि० आता है। भक्तमाल इन्हें सुकुल तथा दो-सौ-बावन-वैष्णवन की वार्ता इन्हें सनौढिया ब्राह्मण बताती है। मूल गोसाईं चरित्र इन्हें कान्यकुब्ज ब्राह्मण ठहराता है, किन्तु इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता में संदेह है; इस प्रकार नन्ददासजी सनौढिया सुकुल आस्पद के ब्राह्मण ठहरते हैं। नन्ददासजी गोसाईं विट्ठलनाथजी के शिष्य थे। इनके वल्लभसम्प्रदाय में प्रवेश पाने की कथा भी बड़ी रोचक है। दो-सौ-बावन-वैष्णवन की वार्ता के अनुसार ये अपने भाई तुलसीदासजी के साथ काशी में रहा करते थे तथा भाई के कहने से इन्होंने रामानन्दी सम्प्रदाय की शरण ले ली। एक बार एक "सङ्ग" काशी से रनछोरजी के दर्शनार्थ जा रहा था और नंददासजी भी उसी के साथ हो लिये। मार्ग में संग विश्राम के हेतु तथा धर्मार्थ दर्शनों के लिये मथुरा में ठहर गया। नंददासजी उतावले हो रहे थे, निदान अकेले ही चल दिये। मार्ग में भटककर सिंहनद नामक स्थान पहुँचे और भूख से व्याकुल हो एक क्षत्री साहूकार के यहाँ भिक्षा माँगने गये। साहूकार की स्त्री रूपवती थी, निदान रूपोपासक नंददासजी नित्य ही उसके घर के सामने खड़े हो जाते और बिना दर्शन प्राप्त किये न हटते। लोकलज्जा के भय से उस क्षत्री ने गाँव छोड़ देना ही उचित समझा। वह विट्ठलनाथजी का शिष्य था, इसलिये उन्हीं के पास जाने के लिये गोकुल की ओर अग्रसर हुआ। नंददासजी ने भी उसका पीछा किया। क्षत्री दम्पति तो यमुना पार कर गया पर नाविक ने नंददासजी को पार उतारने से इन्कार कर दिया। नंददासजी वहीं किनारे बैठकर यमुना की स्तुति के पद गाने लगे। रूपलिप्सा, काल्पनिक सुख और निराशा से ऊबकर अब वे केवल एक निर्विकार विरक्ति की भाँति यमुना-स्तुति में मग्न हो गये। उनके इन पदों में काम, क्रोध या ईर्ष्या का तनिक भी आभास नहीं प्राप्त होता, उनके पद धर्मभीरुता के प्रतीक हैं। उनके दुःखों

तृतीय ऋच्छ सुकर्म योग विचारि सूर नवीन। नन्दनन्दन दासहित साहित्यलहरी कीन।"
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा संगृहीत "साहित्यलहरी" छं० नं० १०९।

का अंत निकट ही था; विट्ठलनाथजी ने उन्हें एक व्यक्ति भेजकर बुलवा लिया और अपनी शरण में ले लिया। उनका मन लौकिक विषयों की ओर से विमुख हो चुका था। वे गोवर्धन और गोकुल के मंदिरों में कृष्ण-गुणगान किया करते थे। उन्हें बाललीला तथा गुरुवंदना में विशेष चाव आने लगा। उनका मन श्रीकृष्ण के रास में थिरकते हुए स्वरूप के साथ साथ थिरका करता था। * इसी के मध्य एक बार तुलसीदासजी ने इन्हें वल्लभ-संप्रदाय से विमुख करने के लिये निष्फल प्रयत्न भी किया था। इनकी मित्रता अकबर की दासी, रूपमञ्जरी, से थी। बीरबल भी इनका बड़ा आदर करते थे। तानसेन के मुख से इनका एक पद "देखो देखो री नागर नट निर्तत कालिन्दी तट" सुनकर अकबर ने इन्हें अपने पास बुलवाया था। इनकी जीवन की घटनाओं से विदित होता है कि इनकी मृत्यु विट्ठलनाथजी तथा बीरबल के सामने ही, अकबर की धार्मिक वृत्ति प्रबल होने के समय हुई थी। बीरबल की मृत्यु काबुल में सं० १६४३ में युद्ध करते करते हुई थी, अतः अनुमान प्रमाण के आधार से नन्ददासजी की मृत्यु सं० १६३९ वि० के लगभग हुई होगी। अपने भक्त जीवन में नन्ददासजी ने कई ग्रन्थों की रचना की। उनकी रचनाओं के अध्ययन से उनका गम्भीर अध्ययन तथा विद्वत्ता स्पष्ट हो जाती है। वे संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे, तथा हिन्दी से उन्हें विशेष प्रेम था। उन्होंने भागवत के दशम स्कन्ध की कथा का अनुवाद भाषा में केवल इसलिये किया था कि संस्कृत से अनभिज्ञ व्यक्ति भी उसका काव्यानन्द उठा सकें—किन्तु ब्राह्मणों की अनुचित लिप्सा के कारण उसका भी अधिकांश भाग नष्ट हो गया है।

ये बड़े रसिक जीव थे, क्षत्राणी से प्रेम तथा रूपमंजरी से मित्रता इस बात के प्रमाण हैं। वे दृढ संकल्पी तथा उतावली प्रकृति के भी थे तभी तो तुलसीदास के मना करने पर भी वे रणछोरजी की यात्रा को चल दिये और जल्दी के कारण राह में ही संग का साथ छोड़कर अकेले ही आगे बढ़ गये। वे सहृदय, सौन्दर्यप्रेमी तथा रसिक जीव थे। चरित्र में दृढ़ता के साथ साथ

*** मोहन पिय की मुसकनि, ढलकनि मोर मुकुट की।**
सदा बसौ मन मेरे, फरकनि पियरे पट की॥

रासपञ्चाध्यायी

चपलता का भी समावेश था। धर्मभीरुता की प्रधानता के कारण चपलता कहीं भी विशेष हानि न पहुँचा सकी तथा सम्पूर्ण जीवन में उनके सदाचार से डिगने का उदाहरण नहीं प्राप्त होता।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अष्टछाप के एक और कवि "कृष्णदास (अधिकारी)" की रचना "भ्रमरगीत" के सम्बन्ध में भी लिखा है, किन्तु उन्होंने उसकी कोई प्रति देखी नहीं है। इस रचना का उल्लेख "चौरासी या दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता" में भी नहीं मिलता। कवि के विभिन्न स्थानों से उपलब्ध पदों से ज्ञात होता है कि उन्होंने विरह तथा भ्रमरगीत विषयों पर चार-छै साधारण पदों को छोड़कर अधिक पद नहीं रचे। डा० दीनदयालुजी भी कृष्णदास के भ्रमरगीत को प्रामाणिक नहीं मानते हैं।

कृष्णकाव्य के इन कवियों के अतिरिक्त भक्तिकाल में रामोपासक तुलसीदासजी ने भी अपनी "कृष्णगीतावली" में भ्रमरगीत सम्बन्धी कुछ पद लिखे हैं। तुलसी की इस रचना में भी उनकी मर्यादा-प्रियता पूर्ण रूप से लक्षित होती है।

अक्षर—अनन्य

दतिया के महाराजा दलपतराव बड़े वीर और मुगलसम्राट् औरंगजेब के खैरख्वाह थे। उनके पिता महाराज शुभकरनजी ने मुगल-साम्राज्य की बड़ी सेवा की थी और इसी कारण इन्हें पंचहजारी का पद प्रदान किया गया। दलपतराव ने सन् १६८३ से १७०७ तक राज्य किया। उनके पाँच कुँवर थे। बड़े कुँवर उत्तराधिकारी हुए, दूसरे कुँवर पृथिवीसिंह या पृथीचन्द-राय को स्योढ़ा की जागीर मिली। अक्षर अनन्य इन्हीं के गुरु थे। अक्षर अनन्य अपने को अछिर, अच्छिर, अछिर अनिन्न तथा अनिन्न आदि नामों से सम्बोधित करते रहे हैं। मिश्रबन्धुओं ने इनका जन्मकाल सं० १७०१ वि० और कविताकाल १७३५ लिखा है। ये निवृत्तिमार्ग के साधु थे तथा धर्म सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों की रचना इन्होंने की है।

शृंगारिक काल

शृंगारिक काल में फुटकल कवित्तों में भ्रमरगीत की रचना करनेवाले

कवियों के अतिरिक्त कुछ कवि ऐसे भी हैं जिन्होंने भ्रमरगीत की क्रमबद्ध रचना की है। उन्हीं में से कुछ कवियों का परिचय निम्नांकित है—

रसनायक

शिवसिंहसरोज तथा मिश्रबन्धु-विनोद में एक रसनायक नाम के कवि का उल्लेख है, किन्तु "विरहविलास" ग्रन्थ के रचयिता इन उल्लिखित कवि से भिन्न हैं। अपने ग्रन्थ "विरहविलास" में कवि ने रचनाकाल तो अवश्य दिया है किन्तु अन्य कोई विशेष परिचय नहीं—

"अष्टादस जु बहत्तरा, संबत सावन मास।
सोमवार सुदि तीज सुभ, प्रगट्यौ विरहविलास॥"

इसके आधार पर संवत् १८७२ में ग्रन्थ-रचना-काल निर्धारित होता है। इसके केवल साढ़े चार मास बाद लिखी गई प्रति श्रीभवानीशंकर याज्ञिक जी ने देखी है। रसनायक के परिचय का आधार उसी पुस्तक की यह पुष्पिका है—

"इति श्रीमत्काम्यवनस्थ बाधूलस गोत्रोत्पन्न गणेशभट्टात्मज "रसनायक" विरचित भ्रमरगीतानुसार उद्धवगोपिनु संवादे "विरहविलास" ग्रन्थ सम्पूर्णम्॥१॥ श्रीकृष्ण प्रसन्नोस्तुः॥ लिखितं मयं पुस्तक भट्ट गंगाविश्न भट्ट गिरधारीलाल सुत भरतपुर मध्ये मिती पौष कृष्ण ३ भौमवार सं० १८७२ शुभं भवतु॥"

रसनायक का निवासस्थान "भरतपुर" राज्य में था, जिसका प्रचलित नाम कामो है; यह भरतपुर से लगभग ३५ मील उत्तर में स्थित है। ब्रज की बनयात्रा का यह मुख्य स्थान है। यहाँ वल्लभसम्प्रदाय की ज्ञात मुख्य मूर्तियों में दो विराजमान हैं—एक मदनमोहन की, दूसरी गोकुलचन्द्रमाजी की। रसनायक आन्ध्रजातीय तैलंग ब्राह्मण थे और इनका इन्हीं मन्दिरों में से एक से संबंध रहा होगा। सम्भवतः वे वल्लभसम्प्रदाय के अनुयायी थे।

रसरासि

रसरासि का मुख्य नाम रामनारायण था किन्तु उपनाम की विशेष प्रसिद्धि

के कारण मूलनाम अपरिचित रह गया। इनके जन्मस्थान का पता नहीं है किन्तु ये जयपुरनरेश सवाई प्रतापसिंह के आश्रित थे। रसरासिजी जयपुरनरेश की "कवि-बाईसी" में प्रधान कवि थे। ब्रजभाषा के अच्छे कवि थे, रेख़्ता भाषा की काव्य-रचना में भी कुशल थे। इनकी स्वतन्त्र रचनाओं में रसिक-पच्चीसी मुख्य है। खोज रिपोर्ट में इनकी रचित "रत्नमालिका" का उल्लेख है किन्तु वह उपलब्ध नहीं। रसरासि की रसिकपच्चीसी का नाम एक पुस्तक में "रसरासि-पच्चीसी" भी दिया हुआ है। श्रीयाज्ञिकजी के पास इसकी तीन प्रतियाँ हैं, दो पूर्ण और एक खण्डित।

जयपुर-निवासी हिन्दी-साहित्य-सेवी पुरोहित हरिनारायणजी ने पुस्तकों का पता लगाया तो उन्हें चार ग्रन्थ मिले (१) स्वरोदय (२) रसकौतुक (राज-सभारञ्जन) (३) माझे (रागभैरव में) (४) कवित्त सत्। खोज में उल्लिखित रत्नमालिका का अभी तक कोई पता नहीं लगा है। जयपुरनरेश सवाई प्रतापसिंह का राज्यकाल संवत् १८३५ से १८६० है। रसरासि इन्हीं के राज्याश्रित कवि थे अतः अनुमानतः यही समय उनका भी रहा होगा।

ग्वाल कवि

इस नाम के दो कवियों का उल्लेख मिलता है; "नवीन" कवि ने भी "ग्वाल कवि प्राचीन" और "ग्वाल कवि मथुरावारे" करके दो स्थान पर ग्वाल कवि का वर्णन किया है। इस पुस्तक से सम्बन्धित "गोपी-पच्चीसी" के रचयिता ग्वाल कवि, ब्रह्मभट्ट सेवाराम वन्दीजन के पुत्र थे। इनका जन्म संवत् १८४८ में हुआ बताया जाता है। ये बहुभाषाभाषी थे, कई भाषाओं में रचना भी करते थे। ग्वाल कवि रचित ग्रन्थों की सूची भिन्न इतिहासकारों ने विभिन्न रूप में दी है। "कवि-हृदय-विनोद" इनकी रचनाओं का संग्रह है। रीतिकालीन कवियों में इन्हें मुख्य स्थान प्राप्त है तथा इनका रचना-काल सं० १८७९ से १९१९ तक सिद्ध होता है।

कई राजा-महाराजाओं ने इनका सम्मान किया, किन्तु ये किसी भी राजा के आश्रित कवि नहीं थे। रसरंग में एक दोहा है जिसके आधार पर यह

कहा जा सकता है कि ये वृन्दावन-निवासी थे किन्तु बाद में मथुरा में रहने लगे—

वृन्दावन ते मधुपुरी किय सुखवास प्रमानि।
विदित विप्र बन्दी बिसद नाम ग्वाल कवि जानि॥

हिन्दीसंसार इनके काव्य से यथेष्ट परिचित है, ये बहुत स्वतन्त्र जीव थे। कहते हैं कि नवीन कवि ने, अपने गुरु ईश से इनका झगड़ा हो जाने के कारण इन्हें अपने संग्रह में स्थान नहीं दिया। इनके पुत्र खूबचन्द और खेमचन्द भी कविता करते थे।

ब्रजनिधि

जयपुर-नरेश सवाई प्रतापसिंहजी का ही नाम "ब्रजनिधि" था। इनका जन्म संवत् १८२१ में हुआ था। ये माधवसिंहजी के सुपुत्र थे तथा अपने बड़े भाई पृथ्वीसिंहजी के देहावसान पर १५ वर्ष की अवस्था में संवत् १८३५ में राजसिंहासन पर बैठे। ये बड़े साहसी, नीतिज्ञ तथा उदार-हृदय राजा थे। मराठों से युद्ध के समय महाराज ने अपूर्व रण-कौशल का परिचय दिया था। इन्हें वास्तु-कला से भी प्रेम था, कई मंदिर तथा महल बनवाये थे। साहित्यानुराग तो अपूर्व था ही, विद्वानों के द्वारा वैद्यक, संगीत, ज्योतिष, इतिहास, धर्म-शास्त्र आदि की पुस्तकें भी रचवाईं। अमृतराय, शंभुराय, रसपुञ्ज, रसरासि, चतुरशिरोमणि आदि कवि इनके दरबार की शोभा बढ़ाते थे। सुकवि पद्माकर को भी इनके द्वारा सम्मान प्राप्त था। ब्रजनिधि का देहान्त लगभग ४० वर्ष की अवस्था पर संवत् १८६० में हुआ था। इनकी जीवनी, स्वभाव तथा साहित्यानुराग किशनगढ़-नरेश नागरीदास के समान ही था तथा रचनाओं में भी समानता है। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा बालाबख्श राजपूत-चारण-ग्रन्थ-माला में इनकी कविताओं का संग्रह "ब्रजनिधि-ग्रंथावली" के नाम से प्रकाशित हो चुका है।

आधुनिक कवि

अयोध्यासिंह उपाध्याय

भारतेन्दु-युग के समाप्त हो जाने पर, किन्तु द्विवेदी-युग के आरम्भ होने के कुछ पहले ही, उपाध्यायजी अपनी रचनाओं में तत्पर हो चुके थे।

उपाध्यायजी का फ़ारसी, उर्दू तथा संस्कृत का ज्ञान पर्याप्त था। हिन्दी खड़ी बोली जब कविता की भाषा होने लगी तब उसके पास अपने कोई छन्द न थे। उपाध्यायजी ने भी पहले उर्दू के छन्दों को ही अपनाया और तत्पश्चात् द्विवेदीजी के प्रभाव के कारण संस्कृत के छन्दों को अधिकाधिक प्रश्रय दिया। संस्कृत वर्ण-वृत्तों में, अतुकान्त, कोमल-कान्त पदावली से पूर्ण इन्होंने अपने ग्रन्थ 'प्रियप्रवास' की रचना की। इसी के अन्तर्गत इनका 'भ्रमरगीत' प्रसंग भी आता है। समय ने अपना प्रभाव उपाध्यायजी की कविता पर भी दिखाया और प्रियप्रवास के रचयिता ने मुहावरों से परिपूर्ण बोलचाल की भाषा में "चुभते चौपदे और चोखे चौपदे" रचे, तथा अपनी लेखनी की सर्वतोमुखी समर्थता सिद्ध कर दी। आपका गृहस्थ-जीवन सुखी रहा। अपने कानूनगो के पद पर आपने बड़ी दक्षता और निष्पक्षता से कार्य-सम्पादन किया। "हरिऔध" जी का जन्म वैशाख कृष्ण तृतीया सं० १९२२ में हुआ था। आप अगस्त्यगोत्रीय, शुक्लयजुर्वेदीय सनाढ्य ब्राह्मण थे। पिता का नाम श्रीभोलानाथसिंह उपाध्याय था। आपके पूर्वज बदायूँ के रहनेवाले थे, किन्तु लगभग तीन सौ वर्षों से वे आजमगढ़ के निकट तमसा नदी के किनारे कसबा निजामगढ़ में आ बसे थे। यहीं निजामाबाद में सिख-सम्प्रदाय के एक साधु बाबा सुमेरसिंह रहा करते थे। वे स्वयम् हिन्दी के अच्छे कवि थे, जिनके सम्पर्क में आकर उपाध्यायजी भी कविता करने लगे।

सत्यनारायण "कविरत्न"

इनका जन्म संवत् १९३६ और निधन सं० १९७५ में हुआ। आपके पिता अलीगढ़ के रहनेवाले थे। बचपन में ही माता-पिता का वियोग हो जाने के कारण इनका लालन-पालन मौसी ने किया। रियासतों में वे अध्यापन कार्य किया करती थीं। मौसीजी भी अधिक दिन जीवित न रहीं। निदान, धाँधूपुर, तहसील आगरा में इनका लालन-पोषण रघुनाथजी के मंदिर के ब्रह्मचारी बाबा रघुवरदासजी ने किया। मिढ़ाकुर जिला आगरा तहसील स्कूल से मिडिल पासकर आपने १९०८ ई० में एफ० ए० पास कर लिया। १९१० ई० की बी० ए० परीक्षा में आप उत्तीर्ण न

हो सके। प्रिंसिपल ड्यूरेन्ट के कथन कि "परीक्षा पास कर लेना ही जीवन का मुख्य उद्देश्य नहीं है" से प्रभावित होकर आपने कालेज जाना बन्द कर दिया।

आपका गृहस्थ जीवन सुखी न रहा। ये कृष्ण के भक्त तथा उपासक थे और पत्नी आर्यसमाजी थीं। "मेरी शारदा सदन" के अधिष्ठाता पं० मुकुन्दरामजी की कन्या से आपका पाणिग्रहण हुआ था। इन्हें कविता लिखने का शौक बचपन से ही था, अपने गाँव में राजपूती होली, दोहों, सवैयों आदि की रचना किया करते थे। कभी-कभी ईश्वर-प्रेमसम्बन्धी भाव भी नवीन शैली में इनके द्वारा प्रकट हुए हैं। प्रत्येक उपलब्ध अवसर पर, कवि-सम्मेलनों में ये अपनी प्रतिभा के पुष्प बिखेर दिया करते थे। आपका स्वभाव बड़ा सीधा-सादा तथा निरभिमानी था, किसी का आग्रह टालना आपके लिये कठिन था। आपकी वेष-भूषा भी आपके हृदय के समान सरल थी। बालकाल से लेकर जीवन पर्यन्त ये आगरे से डेढ़ कोस पर ताजगंज के पास धाँधूपुर गाँव में रहे। आपकी कविता या तो भक्तिकालीन कृष्णभक्त कवियों के ढंग की है या भारतेन्दु-काल की नूतन पद्धति की। "ब्रज-भूमि, ब्रजभाषा और ब्रजपति का प्रेम उनके हृदय की संपत्ति थी"। जीती-जागती ब्रजभाषा में आपने अपनी कविता की है। आपकी कविता में बोलचाल की भाषा की सजीवता है, जिसने आपको सदैव के लिये अमर बना दिया।

जगन्नाथदास "रत्नाकर"

बाबू जगन्नाथदास "रत्नाकर" जी का जन्म भाद्रपदशुक्ल ६ सं० १९२३ में काशी में हुआ था। आपके पूर्वज पानीपत के निवासी थे और मुगलों के समय में उच्च पदों पर काम करते थे। आपके परदादा एक बार जहाँदारशाह के साथ काशी आये और वहीं बस गये। आपके पिता बाबू पुरुषोत्तमदास फारसी के अच्छे ज्ञाता थे। बाबू हरिश्चन्द्र से मित्रता होने के कारण हिन्दी से भी पुरुषोत्तमदासजी को प्रेम था। इन दोनों ही सुसंयोगों का बाबू जगन्नाथदासजी ने अच्छा लाभ उठाया। भारतेन्दुजी ने इनके विषय में

भविष्यवाणी की थी "कि यह लड़का बड़ा कवि होगा" और यह भविष्य-वाणी अक्षरशः सत्य प्रमाणित हुई।

आपकी शिक्षा काशी में ही हुई तथा सन् १८९१ में फारसी लेकर आपने बी० ए० भी पास कर लिया। आवागढ़ रियासत में आपने सन् १९०० में नौकरी कर ली। जलवायु अनुकूल न होने के कारण आप दो वर्ष बाद ही काशी में लौट आये। सन् १९०२ में ये अयोध्या-नरेश महा-महोपाध्याय महाराजा सर प्रतापनारायणसिंह बहादुर के० सी० आई० के प्राइवेट सेक्रेटरी नियुक्त हुए और उनकी मृत्यु के पश्चात् महारानीजी की सेवा में अन्त तक उसी पद पर आसीन रहे। आपकी काव्य-प्रतिभा का दर्शन उर्दू की कविता में सर्वप्रथम हुआ—शनैः शनैः आप हिन्दी की ओर आकृष्ट हुए और समय के सर्वोत्कृष्ट कवि बन गये। इन्होंने स्वयम् लिखा है—"कविता में मेरी रुचि कुछ लड़कपन से ही है" *। वही काव्यलगन अब ग्रन्थों में प्रत्यक्ष है। आपके कवित्त देव, मतिराम और पद्माकर के कवित्तों के समान आनन्ददायक हैं। आप बड़े हँसमुख और सरल हृदय व्यक्ति थे। आपकी कविता बड़ी सरस और मनोहर है। छन्दों की योजना अँगरेज़ कवि टेनीसन की छन्द-योजना से साम्य रखती है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्लजी ने लिखा है—"इनकी कविता बड़े बड़े पुराने कवियों के टक्कर की होती है। पुराने कवियों में भी इनकी सी सूझ और उक्ति-वैचित्र्य बहुत कम देखा जाता है। भाषा भी पुराने कवियों की भाषा से चुस्त और गढ़ी हुई होती थी। ये साहित्य तथा ब्रजभाषा के बहुत बड़े मर्मज्ञ माने जाते थे।" ×

मैथिलीशरण गुप्त

द्विवेदी-काल के सर्वप्रमुख तथा साहित्य-संसार में सर्वप्रिय कवि मैथिली-शरणजी गुप्त हैं। समाज तथा राजनीति की विभिन्न अवस्थाओं का तथा भारतीय संस्कृति का जैसा चित्रण आपके काव्य में है वैसा अन्य किसी काव्य

---

* उद्धव-शतक, रसिक मण्डल प्रकाशन सन् १९४९ पृ० ७।

× हिन्दीसाहित्य का इतिहास, संशोधित तथा परिवर्धित संस्करण, संवत् २००२ वि०, पृ० ५८४।

में नहीं, उचित ही इन्हें द्विवेदी-युग तथा समाज का प्रतिनिधि कवि माना जाता है। सरस्वती में आपकी रचनायें प्रकाशित होना प्रारम्भ हुई थीं। "रंग में भंग" आपकी सर्वप्रथम प्रकाशित पुस्तक है। आपकी प्रसिद्धि का श्रेय "भारत-भारती" को मिलना चाहिये। आप रामोपासक कवि हैं। गुप्तजी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आप अपने काव्य को कालानुसार बदलती हुई भावनाओं और काव्य-प्रणालियों के अनुरूप बना लेते हैं। आपके काव्य की तीन अवस्थायें हैं, प्रथम तो इति-वृत्तात्मक द्वितीय बँगला से प्रभावित और अंतिम छायावाद का रूप है। गुप्तजी वस्तुतः सामञ्जस्यवादी कवि हैं। आपका जन्म संवत् १९४३ चिरगाँव-झाँसी में हुआ था। आपके पिता का नाम सेठ रामचरणजी था। वे स्वयं अच्छे कवि थे। पिता की प्रतिभा के पूर्ण दर्शन गुप्तजी में मिलते हैं। आप बड़े सरल, सहृदय, मिलनसार तथा शुद्ध-प्रकृति के व्यक्ति हैं। आपका गृहस्थ जीवन भी सुखी और परिपूर्ण है।

डा० रामशंकर शुक्ल "रसाल"

"रसाल" जी का जन्म चैत्रकृष्ण २, बुधवार, सं० १९५५ में मऊ जिला बाँदा में हुआ था। आपके पिता पं० कुंजबिहारीलालजी बाँदा में हेडमास्टर थे। सं० १९८२ में आपने प्रयाग विश्वविद्यालय से बी० ए० की और सं० १९८४ में एम्० ए० की परीक्षा पास की। उसी वर्ष आप कान्यकुब्ज कॉलेज लखनऊ में तर्कशास्त्र तथा हिन्दी के अध्यापक नियुक्त हुए। कुछ दिनों बाद पुनः प्रयाग में आकर अन्वेषणकार्य में लग गये। तत्पश्चात् प्रयाग विश्वविद्यालय में ही अध्यापक हो गये। आपने काव्यशास्त्र के विषय में एक गम्भीर, गवेषणापूर्ण, मौलिक तथा विवेचनात्मक ग्रन्थ लिखा जिसके लिये आपको विश्वविद्यालय की ओर से संवत् १९९५ में "डाक्टर आव लिट्रेचर" की उपाधि से विभूषित किया गया। आप ही इस विश्वविद्यालय के सर्वप्रथम हिन्दी के आचार्य हैं। "रसाल" जी ब्रजभाषा-साहित्य के मर्मज्ञ, विशेषज्ञ और साथ ही कुशल कवि भी हैं। आपका काव्य कला-कौशलयुक्त गूढ़ तथा गम्भीर रहता है। वाक्यविन्यास प्रभावपूर्ण संयत और वैचित्र्यमय होता है। आपके शब्द संगुफन में वर्ण-मैत्री और शब्द-मैत्री का अच्छा रूप आता है।

आपकी रचनाओं में वाग्वैचित्र्य के साथ चमत्कार की प्रधानता झलकती है। आप सुयोग्य लेखक तथा मननशील आलोचक भी हैं।

इस प्रसंग पर फुटकल रचना करनेवालों में रीतिकालीन कवि प्रमुख हैं। रीतिकालीन कवि अपने ग्रन्थों में अलंकार तथा रसनिरूपण करते समय इस प्रसंग पर भी कुछ कवित्त, दोहे आदि लिख दिया करते थे। इन छन्दों में "मधुप" "मधुकर" या "उद्धव" शब्द की उपस्थिति से ही इस प्रसंग का बोध होता है। "रहीम" की गोपियाँ केवल मुग्धा नारी हैं, उनकी व्यथा अकथनीय है। वे हृदय से कृष्ण को न भुला सकीं और न उद्धव के छल को ही ग्रहण कर सकीं।

"कहा छलत हौ ऊधौ दै परतीति। सपनेहु नाहिंन बिसरै मोहन मीति।"*

वे कृष्ण के निष्ठुर व्यवहार को संसार की गति ही समझती हैं—

"कहा कान्ह से कहनौ, सब जग साखि।
कौन होत काहू के, कुबरी राखि॥" *

रहीम की सहृदयता तथा मौलिकता सराहनीय है। उनके बरवै में हृदय-पक्ष की प्रधानता पाई जाती है। "मतिराम" ने कवित्त अलंकार के उदाहरणस्वरूप ही लिखे हैं। वे विषम, असम्भव और विकस्वर अलंकारों में ही इस प्रसंग का वर्णन करते हैं तथा उनकी गोपियाँ भी यथेष्ट बुद्धिमान् प्रतीत होती हैं—

"ऊधो जू सूधो विचार है धौं जू कछू समुझैं हम हूँ ब्रजबासी।
मानि है जो अनुरूप कहौ 'मतिराम' भली यह बात प्रकासी।
जोग कहाँ मुनि लोगन जोग कहाँ अबला मति है चपला सी।
स्याम कहाँ अभिराम सरूप कुरूप कहाँ वह कूबरी दासी॥"†

"देव" भी इसी श्रेणी के कवि हैं किन्तु इनके कवित्तों में एक क्रम भी प्राप्त होता है। ऊधो को आया जानकर—

---

* रहीम-कवितावली सं० सुरेन्द्रनाथ तिवारी।

† मतिराम-मकरन्द, ले० श्रीहरदयालुसिंह।

"ऊधो आये ऊधो आये, हरि कों सँदेसो लाये,
सुनि गोपी गोप धाये, धीर न धरत हैं।
बौरी लागि दौरीं उठीं, भोरी लौं भ्रमति अति,
गनति न गनो गुरु लोगन दुरत हैं।
ह्वै गई बिकल बाल बालम वियोग भरी,
जोग की सुनत बात गात ज्यों जरत हैं।
भोर भये भूषन सम्हारे न परत अंग,
आगे को धरत पग पाछे को परत हैं।"

"पद्माकर", "सेनापति" आदि ने भी इस प्रसंग को अछूता न छोड़ा। श्लेष का सहारा लेकर सेनापति ने गोपियों और "कुब्जा" की स्थिति का अंतर स्पष्ट कर दिया है—

"कुबिजा उर लगाई, हम हूँ उर लगाई
पी रहे दुहू के तन मन वारि दीन्हे हैं"

इतना तो साम्य है, किन्तु

"वे तो एक रति जोग हम एक रति जोग,
सूल करि उनके हम्हारे सूल कीन्हे हैं।
कूबरी यों कल पै है, हम इहाँ कलपैं हैं
सेनापति स्यामैं समुझै यों परबीने हैं।
हम वे समान ऊधो कहौ कौन कारन तें
उन सुख माने हम दुख मानि लीने हैं।"*

'दास', 'घनानन्द' आदि कवियों ने इस प्रसंग का वर्णन किया है किन्तु इन प्रसंगों का उतना व्यक्तिगत महत्त्व नहीं है, वे अलंकार के उदाहरणस्वरूप ही अधिक शोभा पाते हैं।

आधुनिक युग में भी इस प्रसंग पर फुटकल रचना की गई है। "भारतेन्दु"

---

* "कवित्त-रत्नाकर", श्लेष वर्णन, पृ० २१, कवित्त नं० ६६, उमाशंकर शुक्ल।

जी ने फुटकल पदों में इस प्रसंग की चर्चा की है किन्तु बिखरे हुए ये पद अपने पद-लालित्य और स्वाभाविक भावव्यञ्जना के कारण महत्त्व के हैं। 'सूर' की गोपी की भाँति वे भी अपना मन गँवा बैठी हैं—

"ऊधो जो अनेक मन होते
तो इक स्याम सुन्दर को देते, इक लै जोग सँजोते
ह्याँ तो हुतो एक ही मन सो, हरि लै गये चुराई
'हरिचन्द' कोउ और खोजि कै जोग सिखावहु जाई।"

प्रकृति के सुन्दर दृश्यों से उनका वियोग और भी उद्दीप्त हो उठता है। वे अत्यन्त दुखित होकर अपना संदेश कृष्ण के पास भेजती हैं, जिसमें मीरा की वियोगिनी आत्मा के दर्शन होते हैं।

"पूरन पियूष प्रेम आसव छकी हौं रोम
रोम रस भीन्यो सुधि भूली गेह गात की
लोक परलोक छाँड़ि लाज सों बदन मोरि
उघरि नची हौं तजि संक तात मात की"

कालिदास

भ्रमरगीत अथवा "कृष्ण का गोपियों के द्वारा उद्धव को संदेश भेजना" के रचयिता कालिदास, प्रसिद्ध कालिदास त्रिवेदी नहीं हैं। उनके सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं है। सन् १९०१ की खोज रिपोर्ट की पुस्तक नं० ६८ प्रत्यक्ष ही कवि (कालिदास) त्रिवेदी रचित है, जिन्हें जम्बू के जलजीतसिंह रघुवंशी ने प्रश्रय दिया था। *

*Kalidasa, the writer of the (Bhramara-Gita) or the delivery of Krishna's message to the Gopies by Udhva, is apparently not the famous Kalidasa Trivedi. Nothing is known about him. The work noticed as No. 68 of 1901 is apparently by the Trivedi Poet who is known to have been patronized by Jaljita Singh Raghubanshi of Jamboo.

हरिराय

इनके भ्रमरगीत सम्बन्धी छन्दों के संग्रह का नाम "सनेहलीला" है। इनकी रचना में कई नाम की छापें पाई जाती हैं।

पजन कुँवरि

ये बुन्देलखंड-निवासिनी थीं। इनकी केवल एक पुस्तक "बारहमासी" उपलब्ध है जिसमें उद्धव द्वारा गोपियों को कृष्ण का संदेश वर्णित है। *

ग्रन्थ-परिचय

"अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय" के लेखक डा० दीनदयालुजी गुप्त के अनुसार सूरदासजी के तीन प्रामाणिक ग्रन्थ हैं—सूरसागर, सूरसारावली तथा साहित्यलहरी। कई अन्य रचनायें जो कि सूरदासजी के नाम से प्रसिद्ध हैं, वे सूरसागर तथा साहित्यलहरी के अन्तर्गत आये हुए प्रसंग या पदस्वरूप हैं। भिन्न भिन्न समय पर आवश्यकतानुसार ये पद या प्रसंग पुस्तक के रूप में रूपान्तरित कर दिये गये।

सूरसागर—यह सूरदासजी की प्रामाणिक पुस्तक है। इसका संग्रह तथा नामकरण उन्हीं के समय में हो चुका था। इसमें सूर ने भागवत की कथा का वर्णन उसी के क्रम से किया है, यत्र-तत्र उन्होंने अपने साम्प्रदायिक विचारों से प्रभावित होकर कुछ परिवर्तन किये हैं। सम्पूर्ण कथा में से सूरदासजी का मन श्रीकृष्ण की बाललीला तथा ब्रज की अन्य लीलाओं में अधिक रमा है, अतः ग्रन्थ का आधा भाग केवल "दशमस्कन्ध" के अन्तर्गत है। इस ग्रन्थ में सवा लाख पद बताये जाते हैं किन्तु अभी तक पाँच-छः हजार पदों से अधिक प्राप्त नहीं हो सके। इसी पुस्तक के अन्तर्गत "भ्रमरगीत" प्रसंग भी आता है।

परमानन्ददासजी के ग्रन्थ

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्लजी ने अपने इतिहास में लिखा है—"इनके

* खोज रिपोर्ट सन् १९०६, १९०७, १९०८, नागरीप्रचारिणी सभा।

फुटकल पद कृष्णभक्तों के मुँह से प्रायः सुनने में आते हैं।" डा० दीनदयालुजी ने वार्ता के प्रसंग को सत्य सिद्ध करके खोज में इन पदों का संग्रह "परमानन्दसागर" ढूँढ़ निकाला है। इसमें भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर लिखे गये पदों का संग्रह है जो कीर्तन के समय गाये जाते हैं। ऐसे कई पदों के संग्रह डा० दीनदयालुजी को प्राप्त हो चुके हैं। नाथद्वारा और काँकरोली-पुस्तकालय में सुरक्षित पद-संग्रह अधिक प्रामाणिक हैं क्योंकि उनमें परमानन्ददासजी के नाम की पूर्ण छाप है।

दानलीला तथा ध्रुवचरित्र परमानंददासजी की सन्दिग्ध रचनायें हैं।

नन्ददासजी के ग्रन्थ

नाभादासजी ने अपने ग्रन्थ भक्तमाल में लिखा है कि नन्ददासजी ने दो प्रकार की रचनायें की हैं। एक तो रसरीति-विषयक और दूसरी भगवान् की लीला विषयक। उनके ग्रंथों को देखने से ज्ञात होता है कि भक्तमाल का कथन सत्य है। इनके प्रामाणिक ग्रन्थ तेरह हैं—

१. रसमंजरी
२. मानमंजरी
३. श्यामसगाई
४. सुदामाचरित्र
५. रूपमंजरी
६. रासपञ्चाध्यायी
७. अनेकार्थमंजरी
८. दशमस्कन्ध
९. गोवर्धनलीला
१०. विरहमंजरी
११. रुक्मिणीमंगल
१२. भँवरगीत
१३. सिद्धान्तपञ्चाध्यायी

इन ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि कुछ ग्रंथ तो कृष्णलीला के प्रसंगों से सम्बन्धित हैं, जैसे रासपंचाध्यायी, भँवरगीत, श्यामसगाई, गोवर्धनलीला, दशमस्कन्ध भाषा, रुक्मिणीमंगल तथा अन्य पद। इसके अतिरिक्त रूप-मंजरी, विरहमंजरी, सुदामाचरित्र और कुछ पद कृष्णभक्ति तथा कृष्ण-चरित्र से सम्बन्ध रखनेवाले हैं। कविआचार्यत्व के द्योतक ग्रन्थों के अन्तर्गत मानमञ्जरी, अनेकार्थमञ्जरी और रसमंजरी आते हैं। सिद्धान्तपञ्चाध्यायी

और स्फुट पद भी पाये जाते हैं जिनका संबंध गुरुमहिमा और नाममहिमा से है। इनके भ्रमरगीतों में भावपक्ष के साथ साथ तर्कपक्ष भी प्रबल है।

अक्षर अनन्य

इनकी एक पुस्तक "प्रेमदीपिका" सम्पादक लाला सीताराम बी० ए० के द्वारा हिन्दुस्तानी एकेडमी यू० पी० से प्रकाशित है। इसमें प्रधानतः तीन प्रसंगों का वर्णन है—

(१) श्रीकृष्ण की आज्ञा से उद्धव का गोपियों को ज्ञान सिखाने जाना।

(२) बलदेवजी का गोकुल जाकर गोपियों के साथ विहार करना।

(३) सूर्यग्रहण के अवसर पर यादवों के साथ श्रीकृष्ण की कुरुक्षेत्र-यात्रा। वहीं पर नन्द, यशोदा तथा गोप-गोपियों से उनकी भेंट तथा राधाजी का परमधाम-गमन।

रस नायक

इनकी पुस्तक "विरहविलास" का रूप एक शतक सा है। एक ही भाव एक बार दोहे में फिर कवित्त में वर्णित है। यदि इनके दोहों का पृथक् संग्रह कर दिया जाय तो उसका रूप बहुत कुछ हरिरायजी कृत "सनेह-लीला" के समान हो जायगा। इस ग्रन्थ में उद्धव की भेंट द्वारिका में श्रीकृष्ण से कराई गई है, भागवत के अनुसार मथुरा में नहीं।

रसरासि

इनकी रचना "रसिकपच्चीसी" कवित्त छन्द में रची गई सुन्दर कृति है। भाव वर्णन में विशेष रूप से किसी कवि का अनुकरण नहीं ज्ञात होता। भाषा बड़ी सुन्दर, मधुर तथा बोलचाल की है।

ग्वाल कवि

इनकी "गोपीपच्चीसी" में २५ छन्द हैं तथा रचना कवित्त सवैयों में

है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल अज्ञात है। गोपियों की विरह-व्यथा का वर्णन बड़ी मार्मिक सानुप्रास भाषा में किया गया है। उद्धव को गोपियों द्वारा जली-कटी सुनाने में अपने स्वाभाविक फक्कड़पन का संकेत आपने खूब दिया है।

ब्रजनिधि

"प्रीतिपच्चीसी" नामक रचना में आपने गोपी-उद्धव-संवाद लिया है जिसमें २८ छन्द हैं। एक छन्द दोहा, तीन सवैया तथा शेष घनाक्षरी के हैं। इस ग्रन्थ में मुख्यतः गोपियों के मानसिक विचारों का ही कथन है। वे निरन्तर अपनी कथा कहते हुए उपहास तथा उपालम्भ के द्वारा उद्धव के योग की निन्दा करती हैं। भाषा तथा भाव मौलिक हैं।

अयोध्यासिंह उपाध्याय

"प्रियप्रवास"—गद्य और पद्य दोनों की भाषा में समानता होनी आवश्यक है, इस सिद्धान्त ने खड़ी बोली को पद्य में भी स्थान दिया। खड़ी बोली जब काव्यक्षेत्र में ग्रहीत हुई तब उसके पास न अपने छन्द ही थे और न प्रचुर भाव-व्यञ्जक शब्द। ऐसी दशा में खड़ी बोली के माध्यम से काव्य रचना करना सरल न था किन्तु उपाध्यायजी ने "प्रियप्रवास" महाकाव्य की रचना करके खड़ी बोली की काव्योपयोगिता सिद्ध कर दी। यह संस्कृत वर्णवृत्तों में समस्त पदावली से युक्त, अतुकान्त छन्दों में लिखा हुआ महाकाव्य है। इसमें कृष्ण का ब्रज से मथुरा-गमन ही विशेष रूप से वर्णित है और इसी के अन्तर्गत भ्रमरगीत प्रसंग भी आता है।

सत्यनारायण "कविरत्न"

"भ्रमरदूत"— आपकी यह रचना अपनी विचारधारा में सर्वथा मौलिक है। अब तक के भ्रमरगीतों में सगुण-निर्गुण-विवादों के साथ गोपियों की प्रेम-व्यथा-व्यञ्जना ही प्रधान रहा करती थी, किन्तु कविरत्नजी के भ्रमरदूत पर देश की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।

जगन्नाथदास "रत्नाकर"

उद्धवशतक—आधुनिक काल में लिखी गई भ्रमरगीत सम्बन्धी रचनाओं में यह सर्वोत्कृष्ट है। सगुण-निर्गुण-विवाद के साथ ही इन्होंने गोपीप्रेम की बड़ी मार्मिक व्यञ्जना की है। इनकी गोपियाँ आरम्भ में सरल ग्राम्य महिलायें हैं, किन्तु उत्तरोत्तर मुखर होती गई हैं। उनका वाक्-चातुर्य और तर्क-पद्धति भी सफल है। शब्दों के प्रयोग में तो "रत्नाकर" जी अद्वितीय हैं। इन्होंने गोपियों की प्रेम-पीर के साथ ही कृष्ण के व्यथित हृदय का भी परिचय दिया है। अन्य भ्रमरगीतों की भाँति इनके उद्धव केवल नीरस तर्क ही प्रस्तुत नहीं करते; उनकी कोमल भावनाओं का भी प्रदर्शन यथास्थान रत्नाकरजी ने किया है। खड़ी बोली के इस युग में ब्रजभाषा में ऐसी सफल रचना करके रत्नाकरजी ने उसकी श्रुतिमधुरता तथा साहित्योपयुक्तता प्रमाणित कर दी है।

मैथिलीशरण गुप्त

द्वापर—द्वापर के पूर्व इन्होंने केवल रामचरित्र का ही गुण-कीर्तन किया था। मर्यादापुरुषोत्तम राम ने समष्टि के हितार्थ व्यष्टि-हित का त्याग किया परन्तु गुप्तजी ने द्वापर में व्यक्तिगत सत्ता की स्थापना का प्रयत्न किया है। द्वापर युग के विभिन्न पात्रों को उन्होंने पृथक् पृथक् चरित्र प्रदान किये हैं। द्वापर में कवि ने गीतिकाव्यात्मक शैली अपनाई। किन्तु तार्किकता का समावेश होने के कारण केवल हृदय ही नहीं मस्तिष्क भी काव्य की प्रभाविकता में सहायक हो जाता है। राधा और कृष्ण के एकाकार होने का वर्णन जितने मधुर और प्रभावशाली पदों में हुआ है उसे देखकर इस काव्य की गीतात्मकता स्पष्ट प्रमाणित हो जाती है। "साकेत" और "यशोधरा" में गुप्तजी ने दो कवि-उपेक्षिता नारीचरित्रों को प्राधान्य दिया है। द्वापर में पुरुष द्वारा निरादृता, परिपीड़िता, 'विधृता' की वाणी को भी प्रस्फुटन उन्हीं के द्वारा प्राप्त हुआ। द्वापर में नारी पात्रों के चरित्रचित्रण में कवि अधिक सहृदय तथा सफल है।

डा० रामशंकर शुक्ल "रसाल"

रसाल-मञ्जरी (उद्धव-गोपी-संवाद)—उद्धव-गोपी-संवाद की अपनी पृथक् विशेषता है। निर्गुण-सगुण-विवाद तथा गोपियों की विरह-व्यथा-व्यञ्जना से भी इनकी शब्दक्रीड़ा, वाक्य-वैदग्ध्य तथा रचना-चातुर्य प्रमुख हो गया है। श्लेष और यमक का चमत्कार सर्वत्र लक्षित है। अनुप्रास-योजना से काव्य में लालित्य तथा श्रुतिमधुरता आ गई है। ब्रजभाषा की माधुर्य-व्यञ्जना के साथ ही तर्क-पद्धति की सफलता भी स्पष्ट है।

—:०:—

विषय-तत्त्व

भँवरगीत-प्रसंग का आधार श्रीमद्भागवत है, परन्तु भागवत में दिये हुए प्रसंग और भाषा-काव्यों के रचयिता वैष्णव भक्तों ने इस प्रसंग में कुछ विचारों की घटा बढ़ी कर दी है। यहाँ तक कि प्रसंग के दृष्टिकोणों में भी भारी अंतर हो गया है। भागवत में, जो कि हिन्दीसाहित्य की इस परम्परा का आधार है, यह प्रसंग इस प्रकार है कि एक बार श्रीकृष्ण ने वृष्णि-वंशियों में श्रेष्ठ पुरुष तथा अपने प्रिय सखा उद्धव को बुलाकर उनका हाथ अपने हाथ में लेकर कहा, "भाई उद्धव! तुम व्रज जाओ, वहाँ मेरे माता-पिता तथा मेरी प्रिय गोपियाँ मेरे विरह में दुखी हो रही हैं, उन्हें मेरी कुशल तथा संदेश सुनाकर आनंदित करो। मैं तुमसे सत्य कहता हूँ कि गोपियों का मन नित्य मुझमें ही लगा रहता है, उन्होंने अपनी बुद्धि से मुझी को अपना प्रियतम सर्वस्व यहाँ तक कि अपनी आत्मा ही समझ लिया है। मेरा यह व्रत है कि जो लोग मेरे लिये लौकिक और पारलौकिक कर्तव्यों का त्याग कर देते हैं, उनकी मैं रक्षा करता हूँ। मेरे यहाँ चले आने से वे अत्यन्त दुखित हो रही हैं। वे बड़े कष्ट और यत्न से किसी प्रकार अपना जीवन धारण किये हुए हैं। मैंने उनसे कहा था कि मैं आऊँगा, यही आशा उनको जीवित रक्खे है। हे उद्धव! मैं ही उनकी आत्मा हूँ, वे नित्य निरन्तर मुझमें ही तन्मय रहती हैं।"* इस प्रकार स्वामी तथा मित्र कृष्ण का आदेश पाकर उद्धवजी व्रज की ओर चल दिये। वे सूर्यास्त के समय व्रज पहुँचे जहाँ उन्होंने गोधन से सम्पन्न व्रजभूमि की शोभा देखी। तत्पश्चात् वे नन्दजी से मिले। नन्दजी ने उनका यथाशक्ति अतिथिसत्कार करने के उपरान्त उनसे श्रीकृष्ण का कुशलमंगल पूछा तथा कंस आदि के नाश पर हर्ष प्रकट किया।

उद्धवजी ने नंद तथा यशोदाजी की सराहना करने के उपरान्त कृष्ण के पुनरागमन की बात कही। उन्होंने कहा "कि आप दोनों परम भाग्यशाली हैं।

---

* श्रीमद्भागवत, दशमस्कन्ध, अध्याय ४६, श्लोक ३, ४, ५ और ६।

आप खेद न करें। आप देखेंगे कि कृष्ण तो आपके पास ही हैं, जैसे काष्ठ में अग्नि सदा ही व्यापक रहती है वैसे ही वे समस्त प्राणियों के हृदय में विराजमान रहते हैं। एक शरीर के प्रति अभिमान न रहने के कारण न तो कोई उनका प्रिय है, न अप्रिय" × × × × "वे लीला के हेतु जो साधुओं के परित्राण के हेतु होती है, जन्म धारण करते हैं। वे अजन्मा हैं, उनमें प्राकृत सत्य, रज और तम एक भी गुण नहीं हैं, वे केवल लीला के हेतु इन गुणों के वशीभूत होते हुए से ज्ञात होते हैं" × × × "भगवान हरि केवल तुम्हारे ही पुत्र नहीं हैं, वरन् सबके पुत्र, आत्मा, पिता, माता, स्वामी आदि सब कुछ हैं।" × × × "कृष्ण और बलभद्र दोनों इस विश्व के निमित्त कारण और आदान कारण हैं, वे सत्त्वों में प्रविष्ट होकर उन तत्त्वों से विरचित विभेद-भाव के और जीव के नियन्ता ईश्वर हैं। वे पुराणपुरुष हैं" × × × इस प्रकार उद्धव ने नंद तथा यशोदा को सान्त्वना दी। इसी प्रकार बातें करते हुए रात्रि व्यतीत हो गई और प्रातःकाल सूर्योदय के समय गोपिकाओं ने नंद के द्वार पर फिर एक वैसा ही रथ खड़ा देखा। वे उसे देखकर उठीं और कहने लगीं, "× × अब यह क्यों आया है? क्या हमें वहाँ ले जाकर हमारे शरीर से अपने स्वामी का पिण्डदान करेगा?" * इस प्रकार वे कह ही रही थीं कि उद्धवजी आ पहुँचे। जब उन्हें ज्ञात हुआ कि ये कृष्ण के सखा हैं तो वे अत्यन्त प्रसन्न हो उठीं और अपने लज्जापूर्ण, कटाक्ष हास्य तथा मधुर वचनों के द्वारा उनका सत्कार कर कहने लगीं—"हम जानती हैं कि आप यदुनाथ के पार्षद हैं, आपको आपके स्वामी ने यहाँ पर अपने माता-पिता को प्रसन्न करने भेजा है नहीं तो हमें कोई वस्तु भी इस ब्रज में ऐसी नहीं देख पड़ती जिसकी कभी उन महापुरुष को याद आती हो। उन्होंने माता-पिता का स्मरण किया, सो तो ठीक है क्योंकि मुनि लोग भी बन्धुओं के स्नेहबंधन को सहज ही नहीं छोड़ पाते। † बंधुओं के अतिरिक्त किसी अन्य से की गई मित्रता स्वार्थ ही के लिये होती है। ऐसी मैत्री का अस्तित्व कार्य सिद्ध होने तक ही रहता है, कार्य पूर्ण होने के पश्चात् मैत्री का भी अंत हो जाता है। × × ×

---

* श्रीमद्भागवत, दशमस्कन्ध, अध्याय ४६, श्लोक ३७, ३९, ४० और ४२ तथा ४१।

† „ „ „ ४७, श्लोक ४, ५।

स्त्रियों से पुरुषों की मित्रता, तथा भ्रमरों का सुमनों पर अनुराग ऐसी ही स्वार्थ-मैत्री का उदाहरण है।" * यह गोपियों का कृष्ण के प्रति उपालम्भ था। वे अपने निष्ठुर प्रिय से चिढ़ी हुई सी ज्ञात होती हैं, फिर भी वे उपालंभ के प्रत्युत्तरस्वरूप आशा तथा प्रिय संदेश सुनने को ही उत्सुक ज्ञात होती हैं।

गोपियाँ मन और वाणी से कृष्ण में ही तल्लीन थीं, इस प्रकार की चर्चा करते-करते उनकी पूर्व स्मृति जाग उठी और वे उनकी लीलाओं का स्मरण करके कृष्ण का गायन करने लगीं। इसी मध्य एक भौंरा वहाँ आया और वे उसे कृष्ण का दूत समझकर उसी पर अपनी खीझ तथा निराशा के वाक्य-बाण छोड़ने लगीं—"धूर्त के बंधु मधुकर! तुम हमारे चरणों को न छुओ क्योंकि तुम्हारे श्मश्रुओं में श्रीकृष्ण की मसली हुई माला का कुंकुम लगा हुआ है। मधुपति, श्रीकृष्ण ही यादवों की सभा में उपहास करानेवाले इस प्रसाद को धारण करें। हम इसे धारण नहीं कर सकतीं। तुम्हारी और कृष्ण की मित्रता तो ठीक ही है। तुम्हारे और कृष्ण के काम भी एक ही हैं। तुम सुमनों के रस को लेकर उड़ जाते हो उसी प्रकार कृष्ण भी हमें अपनी मोहिनी अधरामृत का पान कराके, त्याग करके चल दिये। इतनी चंचल लक्ष्मी भी, ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण के "उत्तम श्लोक" नाम से प्रभावित होकर चरणसेवा किया करती हैं। लेकिन हम इतनी अविवेकिनी नहीं हैं, हम उन्हें भली प्रकार जानती हैं। इस जन्म में तो क्या अपने पूर्व जन्मों में भी उन्होंने ऐसा ही किया है। रामावतार में छिपकर बालि को मारा, अपनी स्त्री सीता के वशवर्ती हो उन्होंने काममोहिता शूर्पणखा के नाक-कान कटवा डाले। इसी प्रकार वामनावतार में राजा बलि की बलि को ग्रहण करने के पश्चात् उसे स्वर्ग से पाताल भेज दिया × × × इतना सब होते हुए भी हम उनकी मोहमाया नहीं छोड़ सकतीं, उनकी चर्चा छोड़ना महा कठिन है।" इस प्रकार गोपियाँ विवश तथा विह्वल थीं। उन्हें कृष्ण से मान अवश्य था, किन्तु वे कृष्ण से अपना सम्बन्धविच्छेद सहन नहीं कर सकतीं थीं। कृष्ण-

* "पुम्भिः स्त्रीषु कृता यद्वत् सुमनस्विव षट्पदैः।"
श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध, अध्याय ४७, श्लोक ६।

विरह में काम-व्यथा से पीड़ित होने के कारण गोपियों को उस सम्बन्ध की कोई चर्चा प्रिय नहीं थी किन्तु फिर भी वे पूछती हैं "कि हे मधुकर ! क्या वे कभी अपने माता-पिता की याद करते हैं, क्या वे कभी हमारी भी याद करते हैं।" *

उनके इस प्रकार कहने-सुनने पर उद्धवजी ने गोपियों के कृष्ण-प्रेम की प्रशंसा की। वे बोले कि तुम्हारी कृष्ण के प्रति प्रेम-भक्ति सराहनीय है। वह भक्ति, जिसके लिये योगी-मुनि अनेक साधनों के द्वारा प्रयत्न करते हैं, तुम्हें सहज ही प्राप्त हो गई है किन्तु उद्धवजी के विचार से इस प्रेम-भक्ति से भी श्रेष्ठ योग और ज्ञान का स्थान था और वे उसी के समर्थन में कहने लगे कि कृष्ण ने कहा है "सबका उपादान होने के कारण मैं सबमें व्याप्त हूँ, तुम्हें मेरा वियोग कभी नहीं हो सकता, जैसे पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, ये पाँचों तत्त्व सारे संसार में व्याप्त हैं, उसी प्रकार मैं भी मन, प्राण, बुद्धि, इन्द्रिय और गुणों का आधार हूँ। मैं पञ्चतत्त्व इन्द्रिय और त्रिगुण-स्वरूपिणी अपनी माया के प्रभाव से अपने ही द्वारा अपने को अपने में उत्पन्न, पालन और लीन करता हूँ। मैं तुमसे दूर केवल इसलिये हूँ कि सदैव मेरा ध्यान करती रहो। प्रियतम के दूर होने पर नारियों का मन सदैव उन्हीं में लगा रहता है, इस प्रकार वासना से शून्य मन को मुझमें लगाकर शीघ्र ही मुझे पा जाओगी।" †

गोपियाँ उद्धव से प्रियतम का संदेश सुनकर प्रसन्न हुईं। संदेश को प्रियतम की आज्ञा मानकर शिरोधार्य कर लिया। उन्हें संदेश में शुद्ध ज्ञान दृष्टिगोचर हुआ और वे पूछने लगीं—"क्या श्रीकृष्ण उन पुरनारियों की भी याद करते हैं × × × प्रेमचर्चा के बीच क्या वे कभी ब्रजांगनाओं की भी याद करते हैं।" प्रकृति की प्रत्येक वस्तु, गोवर्धन, यमुना, गौयें, ब्रज का कण-कण गोपियों को कृष्ण की याद दिलाता है और वे व्याकुल हो उठती हैं। कृष्ण की लीलाओं की याद में ही अपनी समस्त चेतना को गोपियाँ भुला देती हैं। उनका तन,

---

* श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध, अध्याय ४७, श्लोक १२ से २१ तक।
† ,, ,, ,, ४७ ,, २९ से ३६ तक।
‡ ,, ,, ,, ४७ ,, ४२।

मन, धन कृष्ण को अर्पित है और वे उनको भुलाने में सर्वथा असमर्थ हैं। कृष्ण अब लक्ष्मीनाथ, द्वारकानाथ हो गये तो क्या उनके लिये तो ब्रजनाथ ही हैं। सारा ब्रज उन्हीं के शोक में निमग्न है। इस प्रकार अपनी वेदना विवृति के पश्चात् गोपियाँ विलाप करने लगीं "हे ब्रजनाथ! हे आर्तिनाशिन् गोविन्द! यह तुम्हारा गोकुल दुःख के सागर में निमग्न हो रहा है, शीघ्र इसको उबारो। *"

इस प्रकार अपनी गाथा कह चुकने पर गोपियाँ शान्त हो गईं, उन्हें कृष्ण-दर्शन की लालसा अब भी थी। भागवतकार लिखता है कि वे अब इन्द्रियातीत भगवान् श्रीकृष्ण को अपनी आत्मा के रूप में सर्वत्र स्थित समझ चुकी थीं। ब्रज में उद्धव का बड़ा आदरसत्कार हुआ और वे भी ब्रजवासियों की विरहव्यथा मिटाने के हेतु कई महीने वहीं पर रहे और श्रीकृष्ण की लीलाओं की नित्य नई चर्चा के द्वारा उनका शोकावेग कम करते रहे।

उद्धव ने गोपियों के प्रेम की प्रशंसा की है और स्वयं ब्रजकण होने की आकांक्षा केवल इसीलिये प्रकट की है कि वे व्रजांगनाओं की चरणरज को पा सकें। कुछ महीनों के बाद जब उद्धवजी मथुरा वापस जाने लगे तो गोपगण, नंद बाबा तथा अन्य ब्रजवासी यही कहते हैं कि उन्हें मोक्ष की भी चाह नहीं है, वे तो यही चाहते हैं कि उनके मन की एक-एक वृत्ति, एक एक संकल्प श्रीकृष्ण में ही लगा रहे। उनके प्रत्येक शुभ कर्म का फल श्रीकृष्ण के चरणों की प्रीति हो। भागवत की यही कथा इस परम्परा का आधार है। भागवत के उद्धव गोपियों के उत्कट प्रेम की प्रशंसा तो करते हैं परन्तु उससे प्रभावित नहीं होते। विजय ज्ञान की ही होती है। गोपियाँ सरलहृदया तथा स्पष्टवक्ता थीं, उनका प्रेम दैन्य-भाव संयुक्त था, तभी यह संभव हो सका कि वे उद्धव की ज्ञानचर्चा के बाद एकदम शांत हो गईं और उनकी उदार वृत्ति जागृत हो गई। उनका उपालम्भ, मान व ईर्ष्या जो कुछ थी सब मनःशांति में लीन हो गई, किन्तु फिर भी वे कृष्णदर्शन की लालसा को न छोड़ सकीं।

जैसा कि पीछे व्यक्त किया जा चुका है, भागवत की यही कथा लगभग सभी

---

* श्रीमद्‌भागवत, दशमस्कन्ध, अध्याय ४७, श्लोक ५२।

भ्रमरगीतों का आधार रही किन्तु बाद के कवियों ने इसमें कुछ परिवर्तन अवश्य कर दिया है। भागवतकार ने मातृहृदय यशोदा तथा सरल प्रेमिका गोपियों का मुँह ज्ञानचर्चा से बंद कर दिया, किन्तु बाद के सभी भ्रमरगीतों में भक्तियोग की प्रतिष्ठा ज्ञानयोग पर होती है। ज्ञानी उद्धव भी भक्ति से प्रभावित होकर ही वहाँ से लौटते हैं। उद्धव कृष्ण से कहते हैं—

"वह लीला विनोद गोपिन के देखे ही बनि आवै।
मोको बहुरि कहाँ वैसो सुख, बड़भागी सो पावै ॥*

आधुनिक काल में भी रत्नाकर तथा अन्य भ्रमरगीत-रचयिताओं ने अपने उद्धव को भक्ति तथा प्रेमयोग से प्रभावित दिखलाया है—

प्रेममद छाके पग परत कहाँ के कहाँ,
थाके अंग नैननि सिथिलता सुहाई है।
कहै "रतनाकर" यौं आवत चकात ऊधौ,
मानौ सुधियात कोऊ भावना भुलाई है ॥ †

रत्नाकरजी ने उद्धव को गोपीव्यथा देखने के पूर्व ही ब्रज की प्राकृतिक सुषमा से प्रभावित दिखलाया है, उनकी ज्ञानचर्चा तथा ज्ञानगर्व उस प्रकृति-सौन्दर्य की सुकुमारता में विलुप्त सा हो जाता है।

ज्ञानगठरी की गाँठ छरकि न जान्यौं कब,
हरैं-हरैं पूँजी सब सरकि कछार मैं।
डार मैं तमालनि की कछु बिरमानी अरु
कछु अरुझानी है करीरन के झार मैं ॥ †

कृष्ण ने उद्धव को ब्रज भेजने में एक पंथ दो काज साधे, उनका विचार था कि संदेश भी पहुँच जायगा, तथा उद्धव का ज्ञानगर्व मर्दन भी हो जायगा। बाद के भ्रमरगीतों में काव्यसौन्दर्य अधिक है। मनोविज्ञान की दृष्टि से

* भ्रमरगीतसार, रामचन्द्र शुक्ल पद नं० ३८४।
† उद्धवशतक, रत्नाकर, कवित्त नं० १०७, २२।

भी वे सफल रहे, क्योंकि विरह की अवस्थाओं तथा अन्तर्दशाओं का अत्यन्त सुन्दर चित्रण हुआ है। इनमें गोपीप्रेम की वह अनन्त धारा बह निकली जिसमें ज्ञानयोग के झाड़-झँखाड़ सब उखड़ते बहते चले जाते हैं। सभी कवियों ने इसी के अन्तर्गत गोपी-उद्धव-संवाद लेकर उसी के मध्य किसी मधुकर का प्रवेश कराकर गोपियों की विरहव्यथा व्यञ्जित की है। कुछ कवियों ने मधुप का बिना प्रवेश कराये ही केवल "मधुकर" सम्बोधन के द्वारा ही गोपी-कथन आरम्भ कर दिया है—

मधुकर खेद करत है को यह,
टूटी प्रीति बहुरि जोरिये गाँठ गठीली होय।
गनिका सुखी भई आसा तजि रही सवेरे सोय,
हमारी आस जात नहिं अजहूँ सर्वस बैठी खोय।*

अधिकांश भ्रमरगीतों में यशोदा के मातृ-हृदय का पर्याप्त परिचय नहीं मिलता, किंतु सत्यनारायण "कविरत्न" जी ने यशोदा के मातृत्व को ही प्राधान्य दिया है। उनके "भ्रमरदूत" में गोपियाँ नहीं, वरन् यशोदाजी ही व्यथित हैं—

बिलखाती, सनेह पुलकाती, जसुमति माई,
स्याम बिरह अकुलाती, पाती कबहुँ न पाई॥ †

सत्यनारायणजी ने भ्रमर को कृष्ण का दूत नहीं वरन् यशोदा का दूत बनाया है। यशोदाजी को कृष्ण का वर्ण तथा मुरलीध्वनि, मधुप के श्याम रंग तथा गुंजना में आभासित होती है। उनके कृष्ण स्वयम् भ्रमर के रूप में प्रकट होते हैं—

"बिलपति कलपति अति जबै, लखि जननी निज स्याम।
भगत भगत आये तबै, भाये मन अभिराम
भ्रमर के रूप में॥"†

---

* परमानन्ददास कृत डा० दीनदयालुजी गुप्त के निजी संग्रह से।
† "भ्रमरदूत", सत्यनारायणजी "कविरत्न", छ० नं० १८।

इनके भ्रमर-दूत में उद्धव का सर्वथा अभाव है।

भागवत के अनुसार कृष्ण उद्धव के लौट आने के पश्चात् "कुबिजा" के घर गये हैं, किन्तु इन भ्रमरगीतों से ज्ञात होता है कि कृष्ण उद्धव के पूर्व ही उस पर अनुकम्पा कर चुके थे। गोपियाँ कुब्जा को लक्षित करके अपने उपालम्भ प्रकट करती हैं—

"ब्याहो लाख धरो दस कुबरी अंतहु कान्ह हमारो"

सूर की कुब्जा तो उद्धव के द्वारा अपना भी संदेश गोकुल भेजती हैं, जिसमें सपत्नी-ईर्ष्या की भावना परिलक्षित होती है। कुब्जा के संदेश को सुनकर कृष्ण का संकुचित होना इस बात की पुष्टि करता है कि उद्धव को ब्रज भेजने के पूर्व ही कृष्ण कुब्जा के घर जा चुके थे—

सुनियो एक सँदेसो ऊधो तुम गोकुल को जात।
ता पाछे तुम कहियो उनसों एक हमारी बात।

× × × ×

समुझौ बूझौ अपने मन में तुम जो कहा भलो कीन्हों।
कहँ बालक, तुम मत्त ग्वालिनी सबै आप बस कीन्हों।

× × ×

सूरदास यह सुनि सुनि बातैं स्याम रहे सिर नाई।
इत कुब्जा उत प्रेम ग्वालिनी कहत न कछु बनि आई।

इस प्रकार भागवत का आधार लेकर यह कथाधारा प्रवाहित हुई जिसमें समय तथा परिस्थितियों के अनुसार यत्र-तत्र परिवर्तन भी होते रहे हैं।

भ्रमर-गीतों का भाव-पक्ष

काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने अर्थ, विषय-तत्त्व तथा ऐन्द्रिय-प्रत्यक्षता के आधार पर काव्य के कई भेद किये हैं। काव्य वस्तु के आधार पर किये गये तीन भेद हैं— (१) वर्णनात्मक (२) प्रबन्धात्मक तथा (३) मुक्तक; "भ्रमर-गीत" को प्रबन्धात्मक मुक्तक-काव्य कहना उचित होगा जिसमें एक कथा-प्रवाह का अनवरत स्रोत प्रवाहित रहता है। इस काव्य-परम्परा के लेखकों ने जिन छन्दों में अपने भाव व्यक्त किये हैं, वे मुक्तक के ही उपयुक्त हैं, उनमें एक-एक भाव स्वतः पूर्ण है। इन काव्यों में सजीव कथोपकथन, परिचित भाव-व्यञ्जना तथा अद्वितीय काव्य-कौशल के कारण एक चित्रोपमता के दर्शन होते हैं। काव्याध्ययन के पश्चात् मस्तिष्क में एक के बाद एक चित्र प्रत्यक्ष रूप में स्पष्ट होता जाता है। इस चित्रोपमता तथा सजीवता का कारण पात्रों के द्वारा की गई सफल भाव-व्यञ्जना तथा अमूर्त भावनाओं को भी मूर्त स्वरूप प्रदान करने की क्षमता है।

भाव-व्यञ्जना का विचार करते समय दो बातों का ध्यान रखना चाहिये— कितने भावों और गूढ़ मानसिक विचारों तक कवि की दृष्टि पहुँची है तथा भाव कितने उत्कर्ष तक पहुँच सके हैं।

कृष्ण-काव्य के इस मार्मिक प्रसंग पर रचना करनेवाले कवियों में अधिकांश अष्टछाप के कवि हैं। आधुनिक काल में ब्रजभाषा तथा खड़ीबोली के कवियों ने भी इस प्रसंग को अछूता नहीं छोड़ा। ब्रजभाषा के लालित्य में ही इस काव्य-विषय का कलेवर अत्यन्त मनोहर हो उठा है। अष्टछाप-कवियों के काव्य का मुख्य विषय कृष्ण-लीलाओं का भावात्मक चित्रण रहा है, इसी कारण इन कवियों ने वस्तुवर्णन की अपेक्षा भाव-चित्रण की ओर

अधिक ध्यान दिया। उन्होंने कृष्ण-चरित्र के केवल उन भावात्मक स्थलों को ही चुना जिनमें उनकी अन्तरात्मा की अनुभूति गहरी उतर सकी। इन कवियों ने बाह्य विषयात्मक शैली का अनुकरण न करके आत्मविषयात्मक शैली का अनुसरण किया, यही कारण है कि उसमें तन्मय करनेवाली हृदय-द्रावक शक्ति है। इन कवियों का अधिकांश काव्य, "श्रृंगार-रस" चर्चा के अन्तर्गत आता है।

रसों के मध्य रसराज श्रृंगार की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध है, किन्तु इसके दो स्वरूपों में से वियोग या विप्रलम्भ श्रृंगार का प्रसरण जीवन के अपेक्षाकृत कोमल तथा गम्भीर क्षेत्र में है। इसके अन्तर्गत मानव के मनोभावों और गुह्यतम विचारों का जैसा मनोवैज्ञानिक व्यक्तीकरण होता है, वैसा और किसी अवस्था में नहीं। काव्य-शास्त्र के अनुसार विरह की दश दशायें होती हैं*—अभिलाषा, चिन्ता, गुणकथन, स्मृति, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता तथा मरण। इन दश दशाओं के अतिरिक्त इनमें से कुछ से मिलती हुई प्रवास-विरह की दश स्थितियाँ काव्य-शास्त्र में और बताई गई हैं—असौष्ठव अथवा मलिनता, सन्ताप, पाण्डुता अथवा विवृति, कृशता, अरुचि, अधृति अथवा चित्त की अस्थिरता, विवशता अथवा अनावलम्ब, तन्मयता, उन्माद तथा मूर्च्छा।†इनके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न ऋतुओं में विरही के मन की अवस्थायें, संयोग के समय की सुखद वस्तुओं को देखकर या संसर्ग पाकर चित्त की व्याकुलता, अपने आसपास के वातावरण से उद्दीप्त विरह-दशा का वर्णन आदि इसी के अन्तर्गत आता है। भ्रमरगीत प्रसंग में गोपियों ने स्वयं अपनी व्यथा और विरहावस्था का प्राकट्य किया है।

गोपियों का जीवन बड़ी सरलता से बीत रहा था, वे अपने गोपाल पर मुग्ध, भाव-भरी पुत्तलिकाओं की भाँति अपने नित्यकृत्य करती थीं, किन्तु उनका मन कन्हैया की वंशी, बाँकी चितवन, त्रिभंगी मुद्रा तथा पीतपट में ही उलझा रहता था। ऐसे शांत वातावरण में अस्तव्यस्तता उत्पन्न करने के हेतु ही मानो अक्रूरजी कंस का निमंत्रण लेकर आ उपस्थित होते हैं। दूसरे ही दिन

***नवरस, गुलाबराय, सन् १९३४ संस्करण पृ० ३९३।**

†नवरस, गुलाबराय, सन् १९३४ ,, ,, ४०२।

गोपियों के सर्वस्व पुनः आने की मधुर दिलासा देकर चले गये। अपने भौतिक शरीर से कृष्ण का आना फिर नहीं हो सका, यद्यपि गोपियों के मानस में तो उनका नित्य वास था ही।

दिन और महीने बीते, वर्ष बीतते चले गये, किन्तु कृष्ण नहीं आये और न कोई संदेशा ही भेजा। मथुरा जानेवाले बटोहियों ने संदेशों के भय से वह मार्ग ही छोड़ दिया, जहाँ गोपियाँ सम्मुख आ सकें। गोपियों की वेदना, विवृत होने को आतुर थी, अब वे अपना दुःख चुपचाप और अकेली सहने में असमर्थ थीं कि एक दिन कृष्ण का संदेश लेकर उद्धवजी आ पहुँचे और गोपियाँ "जैसी हुति उठि तैसिय दौरी छाँड़ि सकल गृह काम"। किन्तु रथ पर उद्धवजी को बैठा देखकर वे स्तम्भित हो गईं, गोपियों की यह विमूढ़ता मानस-पटल पर एक चित्र सा अंकित कर देती है। वे ऊधो की ज्ञानचर्चा समझने में असमर्थ हैं, न वे अपनी कुछ कह पाती हैं और न दूसरों की कही समझ पाती हैं—

"मधुकर कौन देश को बासी।"

तथा

"हम सों कहत कौन की बातें
सुनि ऊधो हम समुझत नाहीं, फिरि पूँछति है तातें"*

गोपियों का मन पूर्णतया कृष्ण पर आसक्त हैं, वे कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी का ध्यान कर सकने में असमर्थ हैं-—

"नाहिन रह्यो मन में ठौर,
नंदनंदन अछत कैसे, आनिये उर और"।*

उनकी बस एक ही अभिलाषा है कि वे कृष्ण के दर्शन पा जायें "सर ऐसे दरस कारन, मरत लोचन प्यास।" गोपियाँ उद्धव से प्रार्थना करती हैं कि वे कृष्ण को ब्रज-पुनरागमन का स्मरण करा दें; कृष्ण-दर्शन की अभि लाषा अत्यन्त उत्कट है।

---

* सूरदास का "भ्रमरगीत-सार" आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्लजी द्वारा संगृहीत।

"अभिलाषा"—मन में प्रिय-मिलन की अभिलाषा गोपियों के हृदय में सदैव सजग रहती है। परमानन्ददास की एक गोपी की विनीत चाहना है कि कोई कृष्ण को उसकी याद करा दे—

जो पै कोऊ माधव सों कहे,
तो कत कमल नैन मथुरा में एको घरी रहै।
प्रथम हमारी दशा सुनावे गोपी-विरह दहै,
हा ब्रजनाथ रहत विरहातुर नैनन नीर बहै।
विनती कर बलवीर धीर सो चरन सरोज गहै,
परमानन्द प्रभु इत सिधारबो ग्वालिनि दरस लहै ॥*

सूर की गोपियाँ भी नित्य इसी अभिलाषा में रहती हैं:—

निरखत अंक श्यामसुन्दर के बारबार लावति छाती।
लोचन जल कागद मसि मिलि कै ह्वै गई स्याम, स्याम की पाती ॥
गोकुल बसत नंदनंदन के कबहुँ बयारि न लागति ताती।
अरु हम उती कहा करैं ऊधो जब सुनि वेणुनाद संग जाती ॥
प्रभु के लाड़ वदति नहिं काहू निशिदिन रसिक रास रस राती।
प्राणनाथ तुम कबहुँ मिलोगे सूरदास प्रभु बाल सँघाती ॥†

"चिन्ता"—प्रियतम की दर्शनाभिलाषा से ही उत्पन्न चिन्ता का भाव है। सोते, जागते, कार्यरत रहते प्रत्येक अवस्था में उन्हें एक कृष्ण ही का चिन्ता रहती है। उनके इस भाव की व्यञ्जना परमानंददासजी अत्यन्त सरसता से करते हैं—

रैनि पपीहा बोल्यो री माई,
नींद गई चिन्ता चित बाढ़ी सुरति स्याम की आई।
सावन मास देखि बरसा ऋतु हो उठि आँगर धाई,
गरजत गगन दामिनी दमकत तामें जीउ उड़ाई।

---

* परमानंददास डा० दीनदयालुजी गुप्त के निजी संग्रह से।

† सूरदास "भ्रमरगीत-सार" पद नं० ५७।

राग मलार कियो जब काहू मुरली मधुर बजाई,
बिरहिन बिकल दास परमानंद धरनि परी मुरझाई ।*

उनका जाग्रत्, अर्धजाग्रत् दोनों ही मस्तिष्क केवल उसी का चिंतन करता है। इस मनोवैज्ञानिक सत्य का उद्घाटन—

"हमकों सपनेहू में सोच

× × ×

ज्यों चकई प्रतिबिम्ब देखि कै आनन्दी पिय जानि ।
सूर पवन मिस निठुर विधाता चपल कर्‍यो जल आनि ।

तथा

मधुकर ये नैना पै हारे ।
निरखि निरखि मग कमल-नयन को प्रेममगन भये सारे ॥
ता दिन ते नींदी पुनि नासी, चौंकि परत अधिकारे ।
सपन तुरी जागत पुनि सोई ज्यों हैं हृदय हमारे ॥ †

ब्रज की अन्य सब वस्तुयें पूर्ववत् ही हैं, केवल श्रीकृष्ण का अभाव है। प्रियतम के विरह में वे सभी सुखदायक, शांतिदायक वस्तुयें अब दुःखदायी हो गईं। सुन्दर और मनोहर दृश्यों को देखकर उन्हें कृष्ण की स्मृति हो आती है। अभिलाषा और चिन्ता से बढ़ी हुई यह विरह की मानसिक दशा "स्मृति" की है। इसमें प्रेमी कभी तो काल्पनिक विरह में संयोग-सुख का अनुभव करके आनन्दित हो उठता है और कभी पुनः वेदना के गम्भीर रत्नाकर में गोते लगाने लगता है। गोपियों की इस भावदशा का वर्णन भी इन "**स्मृति**"-काव्यों में प्रचुरता से उपलब्ध होता है—

हरि तेरी लीला की सुधि आवति,
कमलनैन मनमोहनी मूरति मन मन चित्र बनावति ।
एक बार जाय मिलत मया करि सो कैसे विसरावति ॥

---

* परमानन्ददासजी, डा० दीनदयालुजी गुप्त के निजी संग्रह से।
† "भ्रमर-गीतसार" आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल पद नं० १२६ ।

मृदु मुसकनि बंक अवलोकनि चालि मनोहर भावति ।
कबहुँक निविड़ तिमिर आलिंगनि कबहुँक पिकस्वर गावति ॥
कबहुँक सम्भ्रम क्वासि क्वासि करि संग हीन उठि धावति ।
कबहुँक नयन मूँदि अंतर गति बनमाला पहिरावति ।
परमानन्द प्रभु स्याम ध्यान करि ऐसे बिरह गँवावति ॥*

सूर की गोपियाँ तो इस स्मरण-चिन्तन में ही अपना समय व्यतीत करती हैं—

हमतें हरि कबहूँ न उदास ।

तथा

"एक बेर खेलत बृन्दाबन कंटक चुभि गयो पाँय,
कंटक सों कंटक लै काढ्यौ अपने हाथ सुभाय ।
एक दिवस बिहरत मन भीतर मैं जो सुनाई भूख,
पाके फल वै देखि मनोहर चढ़े कृपा करि रूख ।
ऐसी प्रीति हमारी उनकी बसते गोकुल बास,
सूरदास प्रभु सब बिसराई मधुबन कियो निवास ।"†

इस लीला-स्मरण में ही गोपियों के दिन बीतते हैं। गोपियों के जीवन की प्रत्येक घटना का सम्बन्ध कृष्ण से ही था। उन्होंने कृष्ण को गोद खिलाया था, बालचरित्र देखा था, उन्हें किशोर होते और यौवनावस्था में पदार्पण करते देखा था। कृष्ण की प्रत्येक अवस्था और लीला का ध्यान गोपियों को था, किन्तु सूरदास, परमानन्ददास, तथा नन्ददास आदि कवियों ने रासलीला की स्मृति का विशेष उल्लेख नहीं किया है। "हरिऔध" जी की गोपियों के स्मृति-विचार शरद-पूर्णिमा की उस रासलीला पर केन्द्रित हैं—

जैसी बजी मधुर बीन मृदंग वंशी
जैसा हुआ रुचिर नृत्य विचित्र गाना ॥

---

* परमानंददास कृत, डा० दीनदयालुजी के निजी पदसंग्रह से ।
† "भ्रमर-गीतसार" पं० रामचन्द्रजी शुक्ल पद नं० ११२ ।

जैसा बँधा इस महानिशि में समा था।
होगी न कोटि मुख से उसकी प्रशंसा ॥*

हरिऔधजी का काव्य, वर्णनात्मक अधिक है, अतः उनकी भावव्यञ्जना केवल इतिवृत्तमात्र ही होकर रह गई है।

"गुणकथन"—स्मृति के इस भावावेश का प्रकाश गुणकथन-रूप में होता है। दिनान्तर विरह के बाद गोपियाँ उत्सुकता से पूर्ण हो नित्य अपने प्रियतम को, गौओं और गोपालकों के साथ वन से लौटते हुए देखती थीं। कृष्ण भी अपनी मधुर मुरली ध्वनि द्वारा अपने आने की सूचना दे दिया करते थे। सन्ध्या तो अब भी पूर्ववत् ही होती है और गायें भी सदा के समान समय पर वन से वापस आती हैं, किन्तु गोपियों के लिये अब ये व्यापार वृथा हैं। किसी की मुरली ध्वनि सुनकर वे अब द्वार की ओर नहीं दौड़तीं किन्तु नित्य सन्ध्या होते ही वे कृष्ण की याद कर उनके गुण-कथन में रत हो जाती हैं। सूर और परमानन्ददास ने अपने इस भाव को लगभग एक ही भाषा में व्यक्त किया है—

एहि बेरियाँ बन ते ब्रज आवते,
दूरहि ते बर बेनु अधर धरि बारम्बार बजावते।

तथा परमानन्दजी के अनुसार—

यह बिरियाँ बन ते आवते।
दूरहि ते बरबेनु अधर धर बारम्बार बजावते॥
कबहुँक केहू भाँति चतुर चित अति ऊँचे सुर गावते।
कबहुँक लै लै नाऊँ मनोहर धौरी धेनु बुलावते॥
यह मिस नाऊँ सुनाय श्याम घन मुरछे मनहि जगावते।
आगम सुख उपचार बिरह जुर बासर अन्त नसावते॥
रुचि रुचि प्रेम प्रिया सेन दे क्रम क्रम बलिहि बढ़ावते।
परमानन्द प्रभु गुननिधि दरसनु पुनि पथ प्रगट करावते॥†

---

* "प्रिय-प्रवास" अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध"।
† परमानन्ददास कृत, डा० दीनदयालुजी गुप्त के निजी संग्रह से।

हरिऔधजी ने भी कृष्ण के गुणकथन को यथेष्ट महत्त्व दिया है। उनकी यशोदा, नन्द तथा गोप सभी उनके सुन्दर रूप तथा गुणों की याद करते हैं। इस विषय को लेखक ने तर्कपूर्ण बना दिया है—

प्रसून यों ही न मिलिन्द-वृन्द को
विमोहता औ करता प्रलुब्ध है
वरंच प्यारा उसका सुगन्ध ही
उसे बनाता बहु प्रीति-पात्र है।*

अपने प्रिय कृष्ण की लीला, गुण तथा स्वभाव की स्मृति गोपियों के मन में सदैव सजग रहती है—

अपूर्व जैसा घनश्याम रूप है।
तथैव वाणी उनकी रसाल है॥
निकेत वे हैं गुण के, विनीत हैं।
विशेष होगी उनमें न प्रीति क्यों? *

इसी विशेष प्रीति का फल था कि वे कृष्ण को कभी भूल न सकीं। जो व्यक्ति एक बार उस रूप-माधुरी के दर्शन कर लेता है, उन मनमोहन के गुण श्रवण कर लेता है, वह उसे प्रयास करके भी नहीं भुला सकता।

"उद्वेग"—प्रेमी को प्रिय-वियोग में सभी सुखद वस्तुयें दुखदायी प्रतीत होने लगती हैं। काव्यशास्त्र के अनुसार इस विकल दशा को उद्वेग की संज्ञा दी जाती है। अष्टछाप के कवियों ने इन भाव दशाओं का वर्णन किया है—

तिहारी प्रीति किधौं तरवारि
दृष्टि धार करि मारि साँवरे, घायल सब ब्रजनारि

परमानन्दजी ने भी इसका वर्णन किया है—

ब्रज की औरै रीत भई
प्रात समें अब नाहिंन सुनियत प्रतिगृह चलत रई॥
ससि की किरन तरनि सम लागत जागत निसा गई।

* "प्रिय-प्रवास" अयोध्यासिंह उपाध्याय।

उद्भट भूप मकर के तन की आज्ञा होत नई ॥
वृन्दावन की भूमि भावती ग्वालनु छाँड़ि दई।
परमानन्दस्वामी के बिछुरे विधि कछु और ठई ॥*

परमानन्ददासजी की गोपियों को कृष्ण की अनुपस्थिति में वृन्दावन जाते भी भय लगता है—

माई री अब तो डर लागत है वृन्दावन जात,
गोविन्द बिनु भीत भये तरुवर के पात।
× × × ×
ओई समीर जमुना तीर दहत हैं सरीर,
परमानन्द प्रभु सीतल निधि नाहिन बल-वीर ॥ †

"प्रलाप"—प्रलाप उस अवस्था का नाम है जब प्रेमी व्यक्ति कुछ सह सकने में असमर्थ होकर, नित्य की वेदना से बोझिल हो इच्छा-पूर्ति के साधन के अभाव में स्वयम् अपने को ही भला-बुरा कहने लगता है। उसे अपनी स्थिति से असंतोष हो जाता है। प्रलाप की एक अवस्था खीज की भी होती है तथा चित्त में आतुरता तथा उपालम्भ का भाव होता है। परमानन्ददास की एक गोपी इसी अवस्था का अनुभव करती हुई कहती है—

क्यों ब्रज देखन नहिं आवत,
नव विनोद, नई रजधानी नौतन नारि मनावत।
सुनियत कथा पुरातन इनकी बहु लोक हैं गावत,
मधुकर न्याय सकल गुन चंचल रस ले रति विसरावत।
को पतियात स्याम घन तन को जो पर मनहिं चुरावत,
परमानन्द प्रीति पद अम्बुज हरि अस राग निभावत ॥‡

सूर की गोपियाँ भी इसी प्रकार उन्मत्त होकर प्रलाप करती हैं—

कैसे पनघट जाऊँ सखी री, डोलौं सरिता तीर।
भरि-भरि जमुना उमड़ि चली है, इन नैनन के नीर ॥

---

* परमानन्ददास के पद, डा० दीनदयालुजी गुप्त के निजी पद-संग्रह से।
† परमानन्ददास, डा० दीनदयालुजी के निजी संग्रह से।
‡ सूरदास "भ्रमर-गीत सार" पं० रामचन्द्र शुक्ल पद नं० ३७४।

अब गोपियाँ अपना जीवित रहना भी वृथा समझती हैं, उन्हें शृंगार-बनाव सब दुखद ज्ञात होते हैं—

"अब या तन राखि का कीजै
सुनि सखि ! स्याम सुन्दर बिन,
बाटि बिषम बिष पीजै" †

अन्त में वे अत्यन्त खीज कर कहती हैं—

"उघरि आयो परदेसी को नेह
तब तुम कान्ह कान्ह कहि टेरति फूलत ही अब लेहु"

गोपियाँ संयोग-सुख के लिए आतुर हो रही हैं, किन्तु उद्धवजी हैं कि निर्गुण-चर्चा बन्द करने का नाम ही नहीं लेते। गोपियाँ झुँझला जाती हैं—

"ऊधो राखति हौं पति तेरी
ह्याँ ते जाहु दुरहु आगे तें देखत आँख बरति है मेरी"

तथा "ऊधो और कछू कहिबे को
सोइ कहि डारौ पा लागौं हम सब सुनि सहिबे को"

"उन्माद"—विरह की इस अवस्था में प्रेमी का विवेक शून्य हो जाना तो साधारण सी बात है। वह अपनी मानसिक वृत्तियों का सन्तुलन नहीं कर पाता। कभी तो वह अपने प्रिय की लीलाओं का अनुकरण करता है और कभी उसे अपने चारों ओर की वस्तुयें सुन्दर, सुखद और सम होते हुए भी भयंकर तथा विषम दृष्टिगोचर होती हैं। सूर की गोपियों की भी यही अवस्था है—

माधव यह ब्रज को ब्योहार,
मेरो कह्यो पवन को भुस भयो गावत नन्दकुमार।
एक ग्वाल गोधन लै रेंगति, एक लकुटि कर लेति,
एक मण्डली करि लै बैठारति छाक बाँटि कै देति।

× × × ×

तथा

फूल बिनन नहिं जाऊँ सखी री हरि बिनु कैसे बिनौं फूल,
सुनि री सखी! मोहि राम दोहाई, फूल लगत तिरसूल।

"व्याधि"—रोग और वियोग आदि से उत्पन्न मन का संताप ही व्याधि है। इसमें प्रस्वेद, कम्प, ताप आदि का अनुभव होता है—

बिन गोपाल बैरिन भईं कुञ्जैं,
तब ये लता लगति अति सीतल अब भईं विषम ज्वाल की पुञ्जैं।
वृथा बहति जमुना खग बोलत वृथा कमल फूलैं अलि गुञ्जैं,
सूरदास प्रभु को मग जोवत अँखियाँ भईं बरन ज्यों गुञ्जैं॥

× × × ×

"जड़ता"—इस अवस्था में प्रेमी किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। वह विमोहित होकर सारे कार्यव्यापार देखता रहता है किन्तु करणीय और अकरणीय की मीमांसा नहीं कर पाता—

परम बियोगिनी सब ठाढ़ी,
ज्यों जलहीन दीन कुमुदिनि बन रवि प्रकास की डाढ़ी।
जिहिं विधि मीन सलिल तें बिछुरे तिहिं अति गति अकुलानी।
सूखे अधर कहि न कछु आवे बचन रहित मुख बानी॥

"मूर्छा"—प्रिय के वियोग में, उसके निरन्तर चिन्तन में मग्न रहते हुए भी जब प्रेमी अपने को निस्साधन पाता है तब उसकी व्यथा अत्यन्त तीव्र होकर उसे संज्ञाहीन सा बना देती है—

सोचति अति पछिताति राधिका मूर्च्छित धरनि ढही।
सूरदास प्रभु के बिछुरे ते, बिथा न जात सही॥

तथा

जबहि कह्यो ये स्याम नहीं।
परी मूरछि धरणी ब्रजबाला जो जहाँ रहीं सुतहीं॥

काव्य में लोकमंगल की भावना का संचार करनेवाले भारतीय कवियों ने कभी किसी अमंगल या दुःखान्त दृश्य का प्रत्यक्षीकरण करने का प्रयास नहीं किया।

"मरण"—अतः साहित्यशास्त्र के अनुसार विरहावस्था में 'मरण' के वर्णन का निषेध किया गया है, परन्तु "मरणासन्न" दशा का वर्णन अवश्य हुआ करता है। सूरदास और परमानंददास दोनों ही के काव्यों में काव्य-परम्परा के अनुसार इस दशा का केवल उल्लेख मात्र हुआ है—

ऊधो कही सो बहुरि न कहियो।

× × × ×

जब हरि गवन कियो पूरब लौं तब लिखि जोग पठायो।
यह तन जारि कै भसम ह्वै निबरयौ बहुरि मसान जगायो॥
कै रे मनोहर आनि मिलाओ, कै लै चलु हम साथे।
सूरदास अब मरन बन्यो है पाप तिहारे माथे॥

परमानंददासजी का वर्णन भी कुछ ऐसा ही है—

ऊधो यह दुःख छीन भई,
बालक दसा नंदनंदन सों बहुरि न भेंट भई।
नैन नैन सों नैन मिलावै बयनि बयनि सों बात।
बहुरि अंग को संग न पायो यह करी क्रूर बिधात।
बहुरि क्यों कान्ह न गोकुल आये मधुबन हम न बुलाई।
परमानंद स्वामी के बिछुरे दसमी अवस्था आई॥*

गोपियाँ अपनी शोकार्त अवस्था में कृष्ण को भला बुरा कहतीं हैं, अपनी दीन-हीन अवस्था पर शोक प्रकट करती हुई, सब कष्टों के जन्मदाता कृष्ण को उनकी कठोरता के लिये कोसती हैं। गोपियों को कृष्ण के अतिरिक्त सभी भले दिखलाई पड़ते हैं—

"हरि से भलो सो पति सीता को"

---

* परमानन्ददास डा० दीनदयालुजी गुप्त के निजी पद-संग्रह से।

किन्तु तत्क्षण ही उन्हें अपने विचारों का पछतावा हो आता है। वे स्वयम् अपनी कठोरता को यादकर दुःखित होने लगती हैं—

मेरे मन इतनी सूल रही,
वै बतियाँ छतियाँ लिखि राखीं जे नन्दलाल कही।
एक दिवस मेरे घर आये मैं ही मथति दही,
देखि तिन्हें मैं मान कियो सखि सो सखि गुसा गही।
सोचति अति पछिताति राधिका मूर्छित धरनि ठही,
सूरदास प्रभु के बिछुरे तें बिथा न जात सही।

इस प्रकार ब्रजभाषा के भ्रमरगीत-रचयिताओं ने कथा-वर्णन की अपेक्षा भाव-व्यञ्जना को ही प्राधान्य दिया है। सूरदास और परमानन्ददास के काव्य में विरहावस्था के विभिन्न भावचित्र प्रचुरता से उपलब्ध हैं। इनके बाद के भ्रमरगीतों में धीरे-धीरे काव्य-कलापक्ष तथा दार्शनिक पक्ष का प्राधान्य होता गया है। नन्ददास और रत्नाकर के काव्य में आध्यात्मिक पक्ष; बुद्धि-बल, तर्क तथा उक्ति का सहारा लेकर अटल खड़ा है। रत्नाकरजी के काव्य में शब्दों का प्रयोग भी चमत्कार उत्पन्न कर देता है—

जग सपनौ सौ सब परत दिखाई तुम्हैं,
तातैं तुम ऊधो हमें सोवत लखात हौ।
कहै 'रतनाकर' सुनै को बात सोवत की,
जोई मुख आवत सो बिबस बयात हौ।
सोवत मैं जागत लखत अपने कौं जिमि,
त्यों ही तुम आप ही सुज्ञानी समुझात हौ।
जोग जोग कबहूँ न जानैं कहा जोहि जकौ,
ब्रह्म ब्रह्म कबहूँ बहकि बररात हौ। *

नन्ददास ने भी इसी प्रकार शाब्दिक चातुर्य तथा उक्ति प्राधान्य का परिचय अपने भ्रमरगीत में दिया है—

* "उद्धव-शतक" रत्नाकर कवित्त नं० ५०।

जौ हरि के नहिं कर्म कर्मबंधन क्यों आवै,
तौ निर्गुन है वस्तु मात्र परमान बतावै।
जौ उनको परमान है तौ प्रभुता कछु नाहिं,
निर्गुन भये अतीत के सगुन सकल जग माहिं
सखा सुन स्याम के ॥ *

डा० रामशंकर शुक्ल "रसाल" जी का काव्य-कौशल उनकी शब्दयोजना तथा उक्ति-वैचित्र्य में निहित है—

"ऊधव ! बिचारैं हमैं आप कहा कामिनि ही,
हम जग-जामिनि की ज्योति ओप ओपी हैं !
लख लख लीजिये हमारी प्रतिमा में आप,
अलख लखावैं कहा आतमा मैं लोपी हैं।
मानैं हैं महातमा महातमा तमा के आप,
आपनो महातम रहे क्यों इत थोपी हैं।
ह्वै हैं आप जोई सोई आप अपने कौ रहैं,
गोपी रहैं गोपी, अपने कौं जब गोपी हैं" । †

"हरिऔध" जी का यह प्रसंग अधिकांश स्थानों पर इतिवृत्तात्मक हो उठता है—

मधुकर सुन तेरी श्यामता है न वैसी।
अति अनुपम जैसी श्याम के गात की है।
पर जब जब आँखें देख लेतीं तुझे हैं।
तब तब सुध आती श्यामली मूर्ति की है।

तथा

जब विरह विधाता ने सृजा विश्व में था
तब स्मृति रचने में कौन सी चातुरी थी।

---

* "भ्रमरगीत" नन्ददास छंद नं० २६ ।
† "उद्धव-गोपी-संवाद" डा० रामशंकर शुक्ल "रसाल" ।

यदि स्मृति विरचा तो क्यों उसे है बनाया,
वपन कटु कु-पीड़ा बीज प्राणी उरों में। *

गोपियों की व्यथा विवृति में वे क्रमशः कृष्ण का पूर्व ब्रज-जीवन ही वर्णित करते हैं, जिसमें गोपियों की मनोव्यथा की मार्मिक विवृति नहीं हो पाती। मैथिलीशरण गुप्तजी ने भावाभिव्यक्ति का समुचित ध्यान रक्खा, उनके इस प्रयास का परिचय हमें गोपियों के सामूहिक चित्रण में प्राप्त होता है—

जो सबको देखे, पर निज को, भूल जाय उस मति-सी
अपने परमात्मा से बिछुड़े, जीवात्मा की गति सी।
चन्द्रोदय की बाट जोहती, तिमिर तार माला सी,
एक एक ब्रजबाला बैठी, जागरूक ज्वाला सी। †

यदि इन आधुनिक भ्रमरगीतों में हम काव्यपरम्परा के अनुसार भाव-व्यञ्जना की खोज करते हैं तो उनके उदाहरण उतनी प्रचुर मात्रा में नहीं उपलब्ध होते जितने सूरदास और परमानन्ददासजी के काव्य में।

ऊपर जिन विरह की दशाओं का वर्णन हुआ है, उनके अतिरिक्त भी प्रवास-विरह की अन्य स्थितियों का चित्रण इन काव्यों में मिलता है। पदों को पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है मानों कवि अपनी ही स्वानुभूतियों का चित्रण कर रहा हो। पदों में इतनी तल्लीनता तथा तन्मयता है कि पाठक के सम्मुख एक चित्र सा उपस्थित हो जाता है। गोपियों को अपने रूप का गर्व था, वे सौन्दर्य से ही कृष्ण को रिझाती थीं, कृष्ण-प्रवास में वही सौन्दर्य राख से ढकी हुई ज्योति-शिखा के समान निर्जीव पड़ा था। गोपियों को शृंगार तथा विलास की कोई वस्तु भाती नहीं थी। उन्होंने अपने शरीर और वेषभूषा की उपेक्षा कर दी थी, जिससे उनका शरीर मलिन "**मलिनता**"—हो गया था। इस मालिन्य भावना का दर्शन कितने भावपूर्ण शब्दों में सूरदासजी प्रस्तुत करते हैं—

* "प्रियप्रवास" अयोध्यासिंह उपाध्याय।
† "द्वापर" मैथिलीशरण गुप्त पृ० १६२।

अति मलीन बृषभानुकुमारी,

हरि स्रमजल अंतर जनु भीजे ता लालच न छुवावति सारी ;

अधोमुख रहति उरध नहिं चितवत ज्यों गथ हारे थकित जुआरी,

छूटे चिकुर बदन कुम्हिलाने ज्यों नलिनी हिमकर की मारी ।

हरि संदेश सुनि सहज मृतक भई इक बिरहिन दूजे अलि जारी,

सूर स्याम बिन यों जीवति हैं ब्रज बनिता सब स्याम दुलारी ।

"**विवृति**"—विवृति की अवस्था में शरीर की कांति नष्ट हो जाती है, तथा शरीर तेजहीन हो जाता है, गोपियों की भी यही अवस्था थी—

व्याकुल बार न बाँधति छूटे,

जब तें हरी मधुपुरी सिधारे उर के हार रहत सब छूटे,

सदा अनमनी बिलप बदन अति यह ढंग रहति खिलोना से फूटे ।

बिरह बिहाल सकल गोपीजन अमरन मनहु बटकुटन लूटे,

जल प्रवाह लोचन ते बाढ़े बचन सनेह आभ्यंतर छूटे ।

परमानंद कहों दुःख कासों जैसे चित्र लिखी मति तूटे ॥

प्रिय की अनुपस्थिति में प्रेमी को अपना शारीरिक सौन्दर्य तथा अन्यान्य भौतिक ऐश्वर्य निरर्थक ज्ञात होते हैं । महाकवि कालिदास इस भाव को स्पष्ट कर देते हैं—"प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता" । विरही सन्ताप में सदैव तप्त होता रहता है । सूर की गोपियाँ भी इसका अनुभव करती हैं—

"**सन्ताप**"—हरि न मिले री माई जनम ऐसे ही लाग्यो जान
जोवतमता द्यौस द्यौस बितित जुग समान ।

तथा

कोऊ माई बरजै या चंदहि,

करत है कोप बहुत हम ऊपर कुमुदनि करत अनंदहि ।

समय व्यतीत होता जाता है, किन्तु प्रिय नहीं आता और उसकी स्मृति में विरही क्षीण होकर केवल अपनी व्यथा का ही सहारा पाता है । परमानंद की गोपियाँ कृष्ण को अपनी इस अवस्था की याद दिलाती हैं और कहती हैं कि आज तुम यदि हमें आकर देखो तो हमारा चर्मावृत शरीर ही पाओगे—

छिनु आँगन छिनु द्वारे ठाढ़ी
हम सूखत हैं घाम ।
परमानंद प्रभु रूप विचारत
रहे अस्थि अरु चाम ।

सूर की गोपी "कर कंकन ते भुज टाँड भई
मधुबन चलत स्याम मनमोहन आवन अवधि जो निकट दई ।"
देखकर केशवदासजी के राम ध्यान में आ जाते हैं—

तुम पूछति कहि मुद्रिके, मौन होत सुनि नाम ।
कंकन की पदवी दई, तुम बिन या कहँ राम ॥
(रामचंद्रिका)

इन कवियों ने जिस वेदना के स्वरूप का विश्लेषण किया है, उसमें विरह-ताप की वाह्यान्तर मात्रा का वर्णन नहीं प्रत्युत प्रेम-वेदना के आभ्यन्तर स्वरूप का वर्णन है । वेदना, विरह-ताप के आधिक्य का वर्णन करने के लिये कवि तीन प्रकार की शैली अपनाता है । प्रथम में तो वह कवि प्रौढ़ोक्तियों को अपनाता है और उनके आधार पर भावों का वर्णन करता है । दूसरे प्रकार की शैली में कवि स्वतः सम्भवी सत्यों का आश्रय ग्रहण करता है तथा तीसरे प्रकार की शैली में व्यञ्जना की आधारभूत वस्तु का स्वरूप तो सत्य होता है किन्तु उसका हेतु कल्पित । ये तीनों शैलियाँ सूरदासजी के काव्य में प्रत्यक्ष हैं ।

उद्धवजी गोपियों को कृष्ण और ब्रह्म की एकत्व भावना को समझाने का प्रयत्न करते हैं किन्तु गोपियों को अपने प्रिय तथा अन्य सारी वस्तुओं में भिन्नत्व दिखाई पड़ता है । गोपियाँ अपनी इस भावना को कवि प्रौढ़ोक्तियों के आधार पर ही व्यक्त करती हैं—

ऊधो तुम अति चतुर सुजान,
जे पहिले रँग रँगी स्याम रँग तिन्हें न चढ़ै रँग आन ।
द्वै लोचन जो बिरद किये श्रुति, गावत एक समान,
भेद चकोर कियो तिनहूँ में बिधु प्रतीम रिपु भान ।

इसी प्रकार—

ऊधो यह हित लागे काहे

× × ×

जाको मन जाहीं ते राँच्यो, तासों बने निबाहे,
'सूर' कहा लै करे पपीहा एते सरि सरिता हैं।

और ऐसे ही भावों की व्यञ्जना के लिये उन्होंने कुछ स्वतः सिद्ध सत्यों का भी उदाहरण दिया है—

बिरहिन बिरह भजै पा लागौं, तुम हो पूरन ज्ञान।
दादुर जल बिन जियै पवन भखि, मीन तजै हठि प्रान।

गोपियों का मन पूर्णतः कृष्ण में लीन है, जब मन ही वश में नहीं तो वे कैसे ब्रह्म का ध्यान कर सकती हैं। अपने इस कार्य की असम्भाविता तथा असमर्थता का वर्णन—

"सूरदास तीनों नहिं उपजत, धनियाँ धान कुम्हाड़े"

में कितना स्पष्ट हो जाता है। विरहिणी गोपियों को अपने अंतर्जगत् और बाह्य जगत् में एक प्रकार का सामञ्जस्य दृष्टिगोचर होता है और यह सामञ्जस्य उन्हें केवल एक ही कारण—कृष्ण के अभाव से उद्भूत हुआ जान पड़ता है। यमुना के श्यामल जल को देखकर गोपियाँ उसे भी अपने ही समान कृष्ण के वियोग में श्यामवर्ण हुआ मानती हैं—

देखियत कालिन्दी अति कारी,
कहियो पथिक जाय हरि सों ज्यों, भई विरह जुर जारी॥

मानव-जीवन का सम्बन्ध उसके चतुर्दिक् वातावरण तथा उसके क्रिया-कलापों की घटनास्थली से होता है। इस सम्बन्ध भावना की अनुभूति संयोग में सुखद तथा वियोग में विरहोद्दीपक होती है। प्रातःकाल और सन्ध्या सब पूर्ववत् ही होते हैं किन्तु रंगहीन और फीके। गोपियों की तो "मदनगोपाल बिना या तन की सबै बात बदली" स्थिति ही बदल गई है, उनकी दशा का परिचय विरहव्यञ्जक "बिनु गोपाल बैरिन भईं कुञ्जैं" आदि पद सम्यक्‌रूप से करते हैं।

वही काली रात्रि जो प्रियतम-संयोग के कारण सुखद थी अब भुजंगिनि ज्ञात होती है—

"प्रिया बिनु साँपिन कारी राति,
कबहुँ जुन्हैया होत जामिनी डसि उलटी ह्वै जाति"

तथा जो वस्तुयें विरह में मग्न दिखलाई पड़ती हैं, गोपियों की सहानुभूति की पात्र हैं—

"बहुत दिन जीवौ पपीहा प्यारो,
बासर रैन नाँव लै बोलत भयो बिरह जुर कारो"

यह उसी प्रकार की सहानुभूति है जिससे प्रेरित होकर नागमती पक्षियों को अपना संदेश वाहक बनाना चाहती है—

"पिय" से कहेउ सँदेसड़ा हे भौंरा ! हे काग !
वह धनि बिरहै जरि मुई, उहिक धुआँ हम लाग ॥*

ऐसी सहानुभूति के वशीभूत होकर विरही जड़ प्रकृति तक में अपनत्व स्थापित कर लेता है और उसके सन्मुख अपनी व्यथा प्रदर्शित करके प्रतिदान में स्वयम् भी सहानुभूति की अपेक्षा करता है। तुलसी के शीलनिधान राम भी जड़ प्रकृति से अपनी प्रियतमा सीता का पता पूछते हैं—

"हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी !
कहुँ देखी सीता मृगनैनी"

गोपियाँ प्रत्येक वस्तु से, जिससे कुछ सहानुभूति की आशा रखती हैं, अपना संदेश कहती हैं। वर्षाऋतु में बादल उनकी मिलनोत्कण्ठा को तीव्र करने के कारण भर्त्सना के पात्र बन जाते थे, वही बादल अब रूप साम्य के कारण विश्वास तथा आदर के पात्र हो गये हैं—

बलैया लैहौं हो बीर बादर,
तुम्हरे रूप सम हमरे प्रीतम गये निकट जल सागर।

---

* "पद्मावत" मलिक मुहम्मद जायसी।

पा लागौं द्वारका सिधारौ बिरहिन के दुख दागर,
ऐसो संग सूर के प्रभु को करुनाधाम उजागर। *

इसी प्रकार चन्द्र और कोकिला भी उनके दूत बन जाते हैं—

जाहि री सखी! साखि सुनि मेरी
जहाँ बसत जदुनाथ जगतमनि बारक तहाँ आउ दै फेरी
तू कोकिला कुलीन कुसल मति जानति बिथा बिरहिन केरी *

× × × ×

तथा

दधिसुत जात हौ वहि देस,
द्वारका हैं स्यामसुन्दर सकल भुवन नरेस।
परम सीतल अमिय तनु तुम कहियो यह उपदेस ॥*

संयोग के समय में आनन्द की तरंग उठानेवाले प्राकृतिक पदार्थ वियोग के दिनों में जो दुःख उपजाते हैं उसकी व्यञ्जना भी प्रचुरता से उपलब्ध है, वे चन्द्र को देखकर कहती हैं—

या बिनु होत कहा अब सूनो
लै किन प्रकट कियो प्राची दिसि बिरहिन को दुख दूनो।

वृन्दावन के हरे-भरे वृक्षों को, जो उनकी विरहावस्था में भी परिपूर्ण हैं, गोपियाँ कोसती हैं और आश्चर्य प्रकट करती हैं—

मधुबन तुम कत रहत हरे?
बिरह बियोग स्यामसुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे?
तुम हौ निलज लाज नहिं तुमकौं, फिर सिर पुहुप धरे।

ऐसी अवस्था में गोपियाँ कृष्ण का विस्मरण कर ही नहीं सकती थीं। पपीहा की 'पी' पुकार उन्हें प्रिय का स्मरण करा देती है, उनका शोकोद्वेग तीव्र हो जाता है और वे पपीहा को उसके इस कृत्य के लिये प्रताड़ित करती हैं—

---

* सूरदास "भ्रमरगीत-सार" आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा संकलित।

हौं तो मोहन के बिरह जरी, रे तू कत जारत ?
रे पापी तू पंखि पपीहा, पिउ पिउ पिउ अधिराति पुकारत,
सब जब सुखी दुखी तू जल बिन, तऊ न तन की बिथहि बिचारत;
सूर स्याम बिनु ब्रज पर बोलत, हठि अगिलोऊ जनम बिगारत।

विरहोन्माद में विभिन्न प्रकार की भावनाओं से रंजित हो एक वस्तु के अनेकानेक रूप दिखलाई पड़ते हैं, कभी तो उन्हें अपने और प्रकृति के बीच में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव दिखलाई पड़ता है। वे इसी भावना से प्रेरित होकर "निसदिन बरसत नैन हमारे" गा उठती हैं। कभी बादल के काले भीषण भयंकर रूप को देखकर—

"देखियत चहुँदिसि ते घन घोरे,
मानो मत्त मदन के हँथियन बल करि बंधन तोरे"

में उनकी कल्पना जाग्रत् हो उठती है। कभी बादल अपने लोकरंजक रूप में सामने आते हैं और वे कृष्ण से अधिक दयालु प्रतीत होते हैं—

बरु ये बदराऊ बरसन आये,
अपनी अवधि जानि नँदनन्दन गरजि गगन घन छाये।
सुनियत हैं सुरलोक बसत सखि, सेवक सदा पराये,
चातक कुल की पीर जानि कै तेऊ तहाँ ते धाये।
तृन किये हरित हरसि बेली मिलि दादुर मृतक जिवाये॥

कृष्ण की निष्ठुरता का कारण गोपियों की समझ में नहीं आता। वर्षा और शरद्ऋतु में जब गोपियाँ अत्यन्त विकल हो जाती हैं तो उन्हें आश्चर्य होता है कि उनके कृष्ण उनकी याद क्यों नहीं करते। वे कल्पना करने लगती हैं कि अपने समय में बादल भी स्वर्गलोक की दूरी पारकर चातक, दादुर आदि की पीर हरने आने लगते हैं। क्षुद्र तृणादि भी हरे-भरे हैं, किन्तु गोपियाँ विरह में क्षीण तथा मलीन हो रही हैं; फिर भी गोपियों को कृष्ण के प्रेम का अविश्वास नहीं होता और वे ऊहापोह की अवस्था में हैं:—

किधौं घन गरजत नहिं उन देसनि;
किधौं वह इन्द्र हठिह हरि बर्ज्यो, दादुर खाये सेसनि।

कृष्ण को गोपियाँ सर्वव्यापी पाती हैं, उनकी प्रेम-व्यञ्जना में "सर्व खलु इदं ब्रह्म" का भाव व्यञ्जित है। गोपियाँ श्याम वर्ण के बादलों में अपने श्याम का अस्तित्व देखती हैं—

आजु घन श्याम की अनुहारि,
उनै आये साँवरे ते सजनी देखि रूप की आरि।
इन्द्र धनुष को मनो नवल वसन छवि दामिनि दसन बिचारि,
जनु बग पाँति माल मोतिन की चितवत दितहि निहारि॥

'हरि औध' जी की राधिका को तो सर्वत्र ही चाँदनी में, कमल में, भृंग में तथा मृग में, प्रियतम की ही छवि दिखलाई पड़ती है—

"मैं पाती हूँ झलक सुषमा, भृंग की कालिमा में
है आँखों की सुछवि मिलती खंजनों औ मृगों में"
"दोनों बाहें कमल कर को देख हैं याद आतीं,
पाई शोभा रुचिर शुक के ठोर में नासिका की"।

प्रिय की वस्तु पाकर प्रसन्नता से सात्त्विकोद्रेक हो जाता है, इस सत्य को अत्यन्त स्वाभाविक, मर्मस्पर्शी और प्रचुर अर्थव्यञ्जक शब्दों में सूरदासजी व्यक्त करते हैं। उद्धव के हाथ से राधाजी पत्रिका लेती हैं और तब—

"निरखत अंक श्यामसुन्दर के बार-बार लावति छाती,
लोचन जल कागद मसि मिलि के ह्वै गई श्याम श्याम की पाती"

परमानन्द के अनुसार—

"पतियाँ बाँचे हू न आवे
देखत अंक नयन जल पूरे गदगद प्रेम जनावे
नन्दकिशोर सुहृथ उदार लिखि उद्धव हाथ पठाये
समाचार मधुबन गोकुल के मुख ही बाँचि सुनाये
ऐसी दशा देखि गोपिन की भक्ति मरम सब जान्यो
मन क्रम बचन प्रेम पद अम्बुज परमानन्द मन मान्यो"

कहीं-कहीं कुछ पदों में परमानन्द की वचन-चातुरी या शब्द-क्रीड़ा भाव-व्यंजना से अधिक प्रधान हो गई है—

"हरि आये सो भली कीन्ही"

इन कृष्ण कवियों का भ्रमर-गीत-प्रसंग उनकी कवि-प्रतिभा, भावानुभावों में अन्तर्दृष्टि तथा संवेदनशीलता का परिचायक है। विप्रलम्भ शृंगार के ऐसे उत्कृष्ट प्रसंग के संबंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे महान् साहित्यिक को कुछ खटकनेवाली बात मिल गई, सम्भवतः वे स्वयं इतने भावमग्न न हो सके थे, जितने भ्रमरगीत-प्रसंग के कलाकार।

शुक्ल जी के अनुसार "परिस्थिति की गम्भीरता के अभाव से गोपियों के वियोग में भी वह गम्भीरता नहीं दिखाई पड़ती जो सीता के वियोग में है। उनका वियोग ठाली बैठे के काम सा दिखाई पड़ता है। सीता अपने प्रिय से वियुक्त होकर कई सौ कोस दूर दूसरे द्वीप में राक्षसों के बीच पड़ी हुई थीं। गोपियों के गोपाल केवल दो-चार कोस दूर के एक नगर में राजसुख भोग रहे थे। सूर का वियोग वर्णन के लिये ही है—परिस्थिति के अनुरोध से नहीं"।

उपर्युक्त आक्षेप विशेष न्याय संगत नहीं हैं। सम्भवतः शुक्लजी गोपियों से यह आशा रखते थे कि वे अपना विरह–ताप शांत करने के हेतु दो-चार कोस मथुरा जाकर कृष्ण के साथ निवास करने लगें। घर बार-वाली गोपियों से यह आशा करना उचित नहीं, फिर उनकी संख्या भी कम नहीं थी। अतिरिक्त इसके बिना निमंत्रण के कहीं जाना बहुत कुछ पार्वती जी के भाग्य को अपनाना सा है। प्रिय का दृष्टि से ओझल हो जाना ही वियोग के लिये पर्याप्त है—वह दो-चार कोस पर हो या सैकड़ों कोस दूर, वियोग की मात्रा में अन्तर नहीं ला सकता। कृष्ण का ऐश्वर्य भी गोपियों के मन में संकोच उत्पन्न करता था। वे भोली भाली ग्रामीण गोपियाँ किस प्रकार राजा कृष्ण के समीप जा सकती थीं जब कि सम्भव था कि द्वारपाल उन्हें द्वार पर ही न फटकने देते। कृष्ण के अभिन्न मित्र सुदामा को कृष्ण से मिलने में कितना संकोच था—जगत्–प्रसिद्ध है। गोपियों को कृष्ण से

मिल लेना ही अभीष्ट न था, वे अपने जीवन के विभिन्न कार्य-कलापों में कृष्ण को सहयोगी देखना चाहती थीं।

सिद्धान्त की दृष्टि से भी रसरूप की उपासिका गोपिकायें कृष्ण के ऐश्वर्य रूप के दर्शन से प्रभावित नहीं हो सकतीं थीं। मथुरा और द्वारिका में कृष्ण अपने ऐश्वर्य रूप से ही स्थित थे। आनन्द और विनोद के सम्पूर्ण उपकरण, मुरली आदि ब्रज में ही छोड़ आये थे—

परेखो कौन बोल को कीजै,

ना हरि जाति न पाँति हमारी, कहा मानि दुख लीजै।
नाहिन मोर चंद्रिका माथे, नाहिन उर बन माल,
नहिं शोभित पुहुपनि के भूषण सुन्दर स्याम तमाल।
नन्दनंदन गोपीजन वल्लभ अब नहिं कान्ह कहावत,
वासुदेव यादव-कुल-दीपक बन्दीजन कर गावत।
बिसर्यो सुख नातो गोकुल को और हमारे अंग,
'सूर' स्याम वर गई सगाई वा मुरली के संग॥

इसके अतिरिक्त बहुत समय तक तो कृष्ण मथुरा में थे भी नहीं, कंस को मारने के बाद वे सांदीपन पंडित के यहाँ उज्जैन चले गये, तथा लौटने पर उन्होंने उद्धव को भेजा ही था। गोपियों की विरह दशा इसी बीच की थी, फिर जरासंध के आक्रमण आरम्भ हो गये, जिनका दमन कर कृष्ण द्वारका चले गये। गोपियों का कृष्ण से मिलन इस प्रकार असम्भव सा हो गया।

———

भ्रमरगीतों का काव्य-कला-पक्ष

कविता का प्राण भाव है तथा कलेवर भाषा, छंद अलंकार आदि। यदि भाव सुन्दर, गम्भीर, सार्वजनिक और सार्वदेशिक हुये तो वह काव्य हृदय-स्पर्शी चिरन्तन तथा सत्य होगा। काव्य-कौशल में भाषा, छन्द और अलङ्कार आदि अपना महत्त्व रखते हैं, किन्तु भाव सदा प्रधान रहता है। सुन्दर, मनोरञ्जक भावों के साथ चमत्कृत शैली, शब्द-चयन, सरस पदावली, स्वाभाविक कल्पना, जीवन की व्यञ्जना, वर्णन में यौक्तिक क्रम, सजीव-साकारता आदि कविता को पूर्णता प्रदान करते हैं। अवश्य ही, केशव की भाँति "भूषन बिन न विराजई बनिता कविता मित्त" कहना असंगत होगा। भ्रमरगीतों की भाव-समीक्षा हो जाने के पश्चात्, काव्य-कला-पक्ष का विवेचन भी आवश्यक जान पड़ता है।

भाषा

"कबिहि अरथ आखर बल साँचा" सत्य ही किसी कवि का भाषा पर अधिकार होना उसकी बड़ी शक्ति है। अनूठे भाव होने पर भी यदि कवि उन्हें सफलतापूर्वक भाषानुकूल शब्दों में व्यक्त नहीं कर पाता, तो उसकी भाव-सम्पत्ति किस काम की? उपयुक्त शब्दों के अभाव में अर्थ का अनर्थ भी हो सकता है, अतः काव्य-मीमांसा में भाषा का समीक्षण भी महत्त्वपूर्ण है। भावात्मकता, चित्रोपमता, ध्वन्यात्मक भावानुकूल शब्द-योजना, आलङ्कारिकता, सजीवता, प्रवाह तथा लय आदिक सफल भाषा के प्रधान गुण हैं।

अष्टछापी कवियों तथा व्रजभाषा के कर्णधारों में सूरदास तथा परमानंद-दासजी का नाम सर्वप्रथम आता है। सूरदासजी का काव्य उनके जीवन-काल में ही ख्यात हो चुका था। नन्ददासजी तो अपनी मधुर और कोमला-वृत्ति प्रधान भाषा के लिये प्रसिद्ध ही हैं। भ्रमरगीत, कृष्णलीला का सर्वाधिक मार्मिक प्रसंग है। इस प्रसंग की भाषा में शोक की दीनता, विनय तथा

परवशता कूट-कूटकर भरी है। भाषा में भावुकता लाने के लिये कवियों ने मानव-जीवन से इतर सम्पूर्ण सृष्टि के साथ मानव का भाव-सामञ्जस्य स्थापित किया है, तथा उन्हें मनुष्यवत् ही मानकर भावों को उत्कर्षता प्रदान की है। सूरदास, परमानन्ददास और नन्ददास की भाषा ब्रज की बोलचाल की भाषा है। बोलचाल की भाषा की उपयोगिता के विषय में विद्यापति अपना मत निर्धारित कर ही चुके थे—"देसिल बयना सब जन मिट्ठा"। इन कवियों की भाषा जनसाधारण की होते हुये भी साहित्यिक है, जिसमें लोकरञ्जनकारी माधुर्य, सरसता तथा सरलता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। गोपियों ने कृष्ण का बचपन देखा था, उन्हें गोद खिलाया था, तनिक-तनिक से काँच के टुकड़ों को मणि की भाँति सहेजते देखा था, अब वही कृष्ण योगाभ्यास का संदेश भेजते हैं। कृष्ण के इस व्यवहार में गोपियों को हास्य, व्यंग्य तथा लघुत्व की भावना के दर्शन होते हैं। सूर ने उपयुक्त भावों के व्यक्तीकरण के लिये भावानुकूल अर्थ व्यञ्जक-पदावली का प्रयोग किया है—

"श्याम विनोदी रे मधुबनियाँ,

अब हरि गोकुल काहे को आवहिं चाहत नव यौवनियाँ।
वे दिन माधव भूलि बिसरि गये, गोद खिलाये कनियाँ,
गुहि-गुहि देते नन्द जसोदा तनक काँच के मनियाँ।
दिना चार तें पहिरन सीखे पट पीताम्बर तनियाँ,
सूरदास प्रभु तजी कामरी अब हरि भये चिकनियाँ।"

विरह की करुणाभिव्यञ्जक शब्दावली:—

"किते दिन भये रैन सुख सोये,

कछू न सुहाय गोपाल बिछूरे, रहे पूँजी से खोये।
जब तें गये नन्दलाल मधुपुरी चीर न काहू धोये,
मुख न तँबोर, नैन नहि कज्जर बिरह समीर बिगोये।
ढूँढत बाट घाट बन-पर्वत जहाँ-जहाँ हरि खेल्यो,
परमानन्द प्रभु अपनो पीताम्बर मेरे सिर पर मेल्यो।"

पद की शब्दावली चित्त तथा शरीर की मलिनता की द्योतक होने के साथ ही साथ गोपियों की असमर्थता भी प्रकट करती है।

नन्ददास ने गोपियों की प्रेम-व्यञ्जना करते समय शब्द-शक्ति का सुन्दर परिचय दिया है—

ऐसे में नन्दलाल रूप नैनन के आगे,
आय गए छबि छाय बने पियरे उर बागे।
ऊधव सों मुख मोरि कै बैठि सकुचि कह बात,
प्रेम अमृत मुख तें स्रवत अम्बुज नैन चुआत।

तरक रसरीति की ॥

पद में पूर्ण आत्मविस्मृति का भाव कूट-कूटकर भरा है, तथा "पियरे उर बागे" "अम्बुज नैन चुआत" शब्दावली में कोमलता, सरसता के भावों के साथ ही विह्वलता भी निहित है।

भक्तिकालीन अन्तिम भ्रमरगीत-रचयिता "अक्षरअनन्य" ने अपना ग्रन्थ बुन्देलखण्डी में लिखा है। बुन्देलखण्ड (स्योढ़ा राज्य) के निवासी होने के कारण यह स्वाभाविक ही था। घनाक्षरी, दोहा, कुण्डलिया, छप्पय, दोधक मुरिल्ल, सोरठा, दण्डक इत्यादि परिचित तथा अपरिचित सभी छन्दों में कवि का भावावेग प्रवाहित है। बुन्देलखण्डी का कितना सहज स्वरूप इनके काव्य में है—

"जबहिं हते इत ग्वाल हमहिं प्यारी तीं तब तौं।
देख मलीन घिनाइँ मिलैं कैसे हरि अब तौं॥"

रीतिकालीन कवि "रसनायक" ने अपने विरह-विलास की रचना ब्रजभाषा में उस समय की जब रेख्ता भाषा में काव्य-रचना का जोर था, इसी कारण तत्कालीन ब्रजभाषा में फारसी तथा अरबी शब्दों का प्राचुर्य दृष्टिगोचर होता है। ऐसी स्थिति में भी कवि रसनायक का शुद्ध ब्रजभाषा प्रयोग सराहनीय

है। हम इसे शुद्ध ब्रजभाषा इसलिये कहेंगे कि इन्होंने अरबी तथा फारसी शब्दों का प्रयोग प्रचलित तथा तद्भवरूप में किया है—जैसे उतन (वतन) जुबान (जबान) नफा, लायक, दावादार गरजी आदि। आख़िर को आखीर, ज़िद्द को जिद तथा क़द्र को कदर का स्वरूप दे उन्हें पूर्णतया ब्रजभाषा में मिला लिया है।

कवि "रसरासि" की भाषा भी शुद्ध ब्रजभाषा है, किन्तु स्वयं रेख़्ताकार होने के नाते कहीं-कहीं उर्दू शब्दों का भी प्रयोग है, फिर भी शुद्ध फारसी-अरबी के शब्दों का बाहुल्य नहीं मिलता। प्रयोग में आये हुए शब्द साधारण बोलचाल के हैं; तफावत, मजकूर, ख्वारी ऐसे शब्दों का प्रयोग अवश्य कुछ खटकता है। "ग्वाल" कवि की भाषा अत्यन्त मधुर तथा सानुप्रास है। उर्दू शब्दों का प्रयोग अवश्य हुआ है किन्तु वे साधारण बोलचाल तक ही सीमित रहे हैं। मुबारक को मुबारिख तथा बारूद का बरुद लिखकर उसे ब्रजभाषा में खपाने का प्रयास किया है। जयपुर-नरेश सवाई प्रतापसिंह जी "ब्रजनिधि" की 'प्रीति-पच्चीसी' की भाषा भी ब्रजभाषा ही है। भाषा पर कवि का पूर्णाधिकार है, बहुभाषाविज्ञ होने के कारण शब्द-भाण्डार भी परिपूर्ण है। शब्दालंकारों द्वारा सजावट के लिये शब्दों को विकृत करना तथा भाव की अपेक्षा भाषा को प्रधानता देना उस काल की विशेषता थी। इस प्रभाव से ब्रजनिधि भी अछूते नहीं रहे, किन्तु इनकी भाषा और भाव सहगामी हैं। काव्य का परिधान ही सज्जित नहीं, आत्मा भी चेतन है।

'हरिऔधजी" के काव्य में संस्कृतशब्दावली की प्रचुरता है। उन्होंने संस्कृत के समान लम्बे-लम्बे समासों का प्रयोग किया है। कहीं-कहीं तो 'है' या 'था' के अतिरिक्त पूरे छन्द तक में हिन्दी का कोई शब्द ही नहीं मिलता। हरिऔधजी के भ्रमरगीत में अन्तर्भावों की व्यञ्जना रूखी सी ज्ञात होती है, जिसमें हृदय की कोमलता, विवशता तथा तर्कहीनता के दर्शन अप्राप्य हैं। "मैथिलीशरणजी" गुप्त ने भी संस्कृत-शब्दों का प्रयोग किया है और कहीं-कहीं तो संस्कृत-शब्दों के कारण छन्द ध्वन्यात्मक हो उठता है। विरहावस्था में गोपियों की दशा, गुप्तजी के अनुसार—

"व्यस्त ससम्भ्रम उठ दौड़े की
स्खलित ललित भूषा सी" *

"व्यस्त ससम्भ्रम" तथा "स्खलित ललित" शब्दों में सम्पूर्ण कार्यव्यापार का चित्र छिपा ज्ञात होता है। इसी प्रकार एक और स्थल पर उनके "उत्कर्णा" और "मधुपर्णा" शब्द मनस्-चित्र उपस्थित करते हैं—

"पिकरव सुनने को उत्कर्णा
मधुपर्णा लतिका सी"*

गोपियों के सुखद जीवन का वर्णन करते समय एक स्थल पर गुप्तजी की शब्दावली अत्यन्त भावव्यञ्जक हो उठती है—

ऊपर घटा घिरी थी नीचे,
पुलक कदम्ब खिले थे।
झूम-झूम रस की रिम-झिम में,
दोनों हिले-मिले थे।

"पुलक कदम्ब" "झूम-झूम रस की रिम-झिम" आदिक शब्द इस संयोग चित्र को सम्मुख ला देते हैं जिसमें प्रत्येक वस्तु नाचती थिरकती ज्ञात होती है।

सत्यनारायणजी "कविरत्न" ने सावन माह की प्रकृति-छटा का वर्णन करते समय इसी पद्धति का अनुसरण किया है। अनुप्रास-अलंकार का आधार लेकर जो लालित्य, गीत और चित्रोपमता वे अपने काव्य में ला सके हैं, अकथनीय है—

"चातक चलि कोयल ललित, बोलत मधुरे बोल,
कूकि-कूकि केकी ललित, कुञ्जन करत कलोल।
निरखि घन की छटा" ॥

---

* द्वापर "गोपियों के प्रति"—श्रीमैथिलीशरण गुप्त।

तथा

"प्रिय पावन पावस लहरि, लहलहात चहुँ ओर,
छाई छबि छिति पै छहरि, ताको ओर न छोर।
लसै मन मोहिनी ॥" ※

इस प्रकार के शब्द-चित्रों से भाषा में एक विशेष चित्रोपमता, भावव्यञ्जकता तथा अर्थसारल्य का समावेश हो जाता है। कवि की सबसे बड़ी सफलता यही है कि वह अपने भावों को कहाँ तक सुस्पष्ट और सरल बना सका है। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के हेतु कवि को बड़ी सतर्कता से शब्द-चयन करना पड़ता है। इस विषय पर बिहारीजी की सम्मति कितनी उपयुक्त है—

"चरन धरत, चिन्ता करत, चितवत चारिहुँ ओर,
सुबरन को ढूँढ़त फिरत, कवि व्यभिचारी, चोर।"

भाषा की सजीवता कठिन शब्दों, दुरूह अलंकारों तथा वाक्चातुर्य या वाग्वैदग्ध्य में नहीं होती। भाषा का सार्वजनिक तथा प्रचलित होना भी एक गुण है। भ्रमरगीत के ब्रजभाषा-कवियों (सूरदास, नंददास तथा परमानंददास) की भाषा उस समय की प्रचलित तथा सार्वजनिक ब्रजभाषा ही थी। इनके पद बड़े सम्मान के साथ दूर दूर तक मंदिरों में गाये जाते थे जिनमें निहित लय और साहित्य पर लोग मुग्ध हो जाते थे। आधुनिक युग के ब्रजभाषा कवि जगन्नाथदास "रत्नाकर" ने उद्धव-शतक लिखकर ब्रजभाषा की श्रुतिमधुरता प्रमाणित कर दी है। डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने भी इसी लालित्य को पुनर्जीवन दिया है। इन दोनों आधुनिक कवियों की भाषा में साहित्यिक एकता के दर्शन पूर्ण रूप से होते हैं। ब्रजभाषा को एकरसता तथा साहित्यिक एक-रूपता प्रदान करने का सराहनीय प्रयास जो केशव ने आरम्भ किया था तथा जिसको कविवर बिहारी और घनानंद ने पूर्णता को पहुँचाना चाहा था, वह वास्तव में "रत्नाकर" जी के काव्य में ही पूर्णता को प्राप्त हो सका है। रत्नाकरजी की भाषा सर्वाङ्गीण है, उसमें किसी प्रकार का अभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। "सूर" की भाषा में बिदेशी शब्दों का तथा संस्कृत तत्सम शब्दों का

※ "भ्रमरदूत" सत्यनारायणजी "कविरत्न"।

प्रयोग, नंददास और परमानन्ददास की भाषा से अधिक हुआ है। परमानन्द-दास, तथा नन्ददास के काव्य में जो विदेशी और संस्कृत के तत्सम शब्द आये भी हैं वे ब्रजभाषा के व्याकरण द्वारा ही अनुशासित हैं।

"सूर" की भाषा सार्वजनीन तथा सार्वदेशिक है, जिसमें पूरबी और पंजाबी शब्दों के प्रयोग भी समान रूप से मिलते हैं। ब्रज की चलती हुई भाषा होते हुये भी सूर की भाषा पूर्णरूपेण साहित्य के लिये उपयुक्त है। अन्य प्रान्तों के कुछ प्रचलित शब्दों और प्रत्ययों के साथ ही साथ वह पुरानी काव्य-भाषा अपभ्रंश के शब्दों को भी लिये हुये है। 'जाकों' 'तासों'. 'वाको' आदि ब्रज-भाषा के प्रचलित शब्द भी उसमें मिलते हैं तथा 'जेहि', 'वेहि' आदिक पुराने रूप भी प्राप्त होते हैं जो उस समय ब्रज में नहीं प्रत्युत अवधी में प्रयुक्त होते थे। पुराने निश्चयार्थक "पै" का भी प्रयोग पाया जाता है—

"जाहि लगै सोई पै जानै प्रेम बान अनियारो"

'गोड़', 'आवन', 'हमार' आदि पूरबी प्रयोग प्रचुरता से हैं। "प्यारी" शब्द, जो पञ्जाबी में "महँगी" के अर्थ में प्रयुक्त होता है, का भी प्रयोग सूर ने किया है—

ब्रज जन सकल स्याम ब्रत धारी,
बिन गोपाल और नहिं जानत आन कहें व्यभिचारी।
जोग मोंट सिर बोझ आनि कै कत तुम घोष उतारी,
इतनी दूर जाहु चलि कासी जहाँ बिकति है प्यारी।

ब्रजमण्डल में ग्वालबालों के मुख से सुने जानेवाले 'खरिक', 'दोहनी', 'धैया' आदि शब्द भी सूर के काव्य में मिल जाते हैं।

सूरदासजी ने मुहाविरों तथा लोकोक्तियों को भी अछूता नहीं छोड़ा है। "होनी होउ सो होउ", "ज्यों जारे पर लौन", "मगन कूप खर खोरे", "दूध माँझ की माखी", "पवन को भुस भयो" आदि मुहावरे भावों को स्पष्ट कर देते हैं। "तुमसों प्रेम कथा कहिबो है, मनहुँ काटिबो घास" वाक्य में मुहाविरे का प्रयोग उद्धव की प्रेमचर्चा सुनने की अयोग्यता स्पष्ट कर देता है। अवधि

का बहुत दीर्घ और दुःखदायी हो जाने का भाव "सूरदास ऊधो अब हमको भयो तेरहों मास" वाक्य में कितना स्पष्ट है। ब्रज में रहकर कृष्ण गोपियों से अत्यन्त प्रेम करते थे तथा मथुरा जाकर उन्हें भूल गये। उनका यह विरोधी कार्य उसी प्रकार है "ज्यों गजराज काज़ के औसर औरै दस्न दिखावत", हाँथी के खाने के दाँत और, और दिखाने के और, मुहावरे को ही साहित्यिक रूप प्रदान करके भावव्यञ्जना की गई है।

"परमानन्द दास" जी ने सूर की अपेक्षा तत्सम शब्दों का प्रयोग कम किया है। ऐसे जो शब्द प्रयुक्त हुये भी हैं वे ब्रजभाषा के अनुकूल बनकर ही। 'मणि' के स्थान पर 'मनि', 'कंकण', का 'कंकन', 'निगु‌ण' का 'निगु‌न' 'रेणु' के लिये 'रेनु', 'गागरि', 'अँचरा', 'मडुकिया' आदि शब्द ब्रजभाषा का ही बाना पहने हैं।

कृष्णभक्ति के प्रचार के कारण लोग सुदूर प्रान्तों से ब्रजयात्रा को आया करते थे, अतः उनकी भाषा के भी कुछ शब्दों का ब्रजभाषा में समावेश हो जाना स्वाभाविक था, इसी कारण परमानंददासजी की भाषा में अवधी और बुन्देलखण्डी शब्द भरे पाये जाते हैं। उनके विनती के पदों में बुन्देलखंडी शब्द मिलते हैं—

गोबिन्द गोकुल की सुधि कीबी,
पहिलेहि नाते स्याम मनोहर इतनीक पाती दीबी।

× × ×

तथा

बारक गोकुल तन मन कीबो,
गोपी ग्वाल गाय बनवारी अपनो दरसन दीबो।
ए सब लोग बिरह के कातर अंत कहाँ लौ लीबो॥ *

× × ×

पदों में 'कीबी', 'दीबी', 'लीबो', 'दीबो', आदि शब्द बुन्देलखण्डी हैं।

* परमानन्ददास, डा० दीनदयालुजी गुप्त के निजी पद संग्रह से।

'हमरी अँखियन तरहि न आवे', में "हमरी" शब्द प्रत्यक्ष ही अवधी का है। 'कागद', 'लायक' आदि अरबी शब्द तथा 'सुरति', 'सादिये' 'बिहाल' आदि फ़ारसी के शब्द रूपान्तर के बाद ही परमानंददासजी ने प्रयुक्त किये हैं। भाषा में प्राण डाल देनेवाले मुहाविरे भी परमानंददास की भाषा के प्रमुख अंग हैं। किसी भी बात के मर्म को न समझकर केवल ऊपरी मन से समर्थन कर देने में कितना खोखलापन है, इस विचार को मुहाविरे में लाक्षणिक प्रयोग के आधार पर ही परमानंददासजी स्पष्ट कर सके हैं—

कहा रस बरियाई की प्रीति,
जब लगु अन्तर गढ़े न ऊधो भुस ऊपर की भीति।

× × ×

यद्यपि मधुप ज्ञान दिखरावै, हमरी अँखियन तरहि न आवै *

× × ×

"नन्ददास" के ग्रन्थ, भँवरगीत, रुक्मिनीमंगल तथा रासपञ्चाध्यायी ब्रज-भाषा में सर्वाधिक श्रुति मधुर हैं। इनके ग्रन्थों में शृंगाररस की प्रधानता होने के कारण भाषा में माधुर्य और प्रसादगुण ही पाये जाते हैं। "और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया" नन्ददासजी शब्दगठन में नियमों का पूर्ण ध्यान रखते थे तथा शब्दों की संगत बैठालकर ही उन्हें काम में लाते थे। उनके काव्य में शब्दमैत्री बड़ी कुशलता और सफलता के साथ प्रस्तुत की गई है। कहीं-कहीं संस्कृत के तत्सम शब्द या पद भी सहेतु रक्खे गये हैं। लम्बे समासों का अभाव है तथा क्लिष्ट, महाप्राण और कठोर वर्ण प्रयुक्त नहीं किये गये हैं, विशेषणों का प्रयोग केवल सौन्दर्य और चरण पूर्ति के लिये ही नहीं हुआ है, वरन् उसमें गूढ़ भावव्यञ्जना भी है।

तर्क-पूर्ण विवाद की भाषा का स्वरूप गोपी-विरह के स्थलों की भाषा से भिन्न है। तर्क-पूर्ण स्थलों पर भाषा में पाण्डित्य की अधिकता है तथा उपालम्भों में, व्यञ्जनाशक्ति का प्रभाव अधिक है।

* "भँवरगीत" नन्ददास पद नं० २० तथा २१।

जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहाँ ते,
बीज बिना तरु जमै मोहि तुम कहौ कहाँ ते।
वा गुन की परछाँह री माया दर्पन बीच,
गुन ते गुन न्यारे भये अमल-बारि मिलि कीच।
सखा सुन स्याम के ॥ *

पद में तर्क-पूर्ण विवाद की झलक है। इसी तरह विरह की भावपूर्ण भाषा इस प्रकार है—

कोउ कहै-अहो दरस देहु पुनि बेनु बजावौ
दुरि दुरि बन की ओट कहा हिय लोन लगावौ
हमको पिय तुम एक हौ तुमको हमसी कोटि
बहुत भाँति के रावरे प्रीति न डारौ तोरि
एक ही बार यौं। *

नन्ददासजी ने भी संस्कृत तत्सम शब्दों को व्रजभाषा का रूप दे दिया है जैसे योग का 'जोग', सूक्ष्म के लिये 'सुच्छम' आदि। नाहिंन, आहि, तुम्हरी, रावरे, आदिक पूर्वी शब्दों का प्रयोग उनकी भाषा में मिलता है। "कुल तरि गयो", "फटि हियरो चल्यो", "हिय लोन लगावौ" "चोर चित लै गये" आदि मुहावरों ने नन्ददासजी की भाषा को अत्यन्त सजीव और मधुर बना दिया है। "वे तुमतें नहिं दूरि ज्ञान की आँखिन देखौ", "हमरे सुन्दर स्याम प्रेम कौ मारग सूधौ" "बहुत पाय कै रावरे प्रीति न डारौ तोरि", "हा करुनामय नाथ हा, केशव कृष्ण मुरारि फटि हियरौ चल्यौ"

तथा

"घर आयो नाग न पूजहीं बाँबी पूजन जाहिं" आदि कहावतों तथा शब्दों के लाक्षणिक प्रयोग की प्रचुरता है।

नन्ददास गानविद्या में निपुण थे, अतः उन्होंने शब्द-चयन भी ऐसा किया, जिससे शब्दों में प्रवाह तथा संगीत आ गया है। सूरदास, परमानन्द-

दास तथा नन्ददास तीनों ने शब्दों का क्रियारूप उन शब्दों में ही परिवर्तन करके बना लिया, जैसे "आनन्दे", "आनद्यो" आदि। छन्द या पद को तुकान्त बनाने के लिये शब्दों के रूप में परिवर्तन, इन तीनों ने ही, आवश्यकतानुसार कर लिया है।

"सत्यनारायणजी कविरत्न" आजीवन तन-मन से ब्रजभाषा की सेवा करते रहे। आपकी भाषा साहित्यिक होते हुए भी लोकभाषा से दूर नहीं रही। आपका ब्रजभाषा से प्रेम सुस्पष्ट है—

नहिं देशीय भेष भावनु की आशा कोऊ,
लखियत जो ब्रजभाषा जाति हिरानी सोऊ।
आस्तिक बुधि बंधन से, बिगरीं सब मरजाद,
सब काऊ के हिय बसैं, न्यारे न्यारे स्वाद
अनोखे ढंग के॥ *

कविरत्नजी ने भावानुकूल शब्द-चयन किया है—यशोदाजी कृष्ण को याद करती हैं, उनके वात्सल्य की व्यञ्जना—

जन मन रञ्जन सोहना, गुन आगर चितचोर
भव भय भंजन मोहना नागर नन्दकिसोर
गये जब द्वारिका॥ *

आपने अपनी भाषा में ग्रामीण शब्दों का भी प्रयोग किया है। कहीं कहीं ये ग्रामीण शब्द तद्भवरूप में होने के कारण कठिनाई से समझ में आते हैं—'सिदोसौ लैटियौ' तथा 'रहे बालौ अजहुँ' आदि। आपकी भाषा मुहाविरेदार है, जिसमें अनुप्रास ऐसे सरल और प्रचलित अलंकारों का प्रयोग हुआ है।

डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने भी अपनी रचना 'उद्धव-गोपी-संवाद' ब्रजभाषा में की है, जिसमें शब्द-क्रीड़ा, बुद्धि-चमत्कार तथा वाक्वैचित्र्य की प्रधानता है।

---

* "भ्रमर-दूत" सत्यनारायण "कविरत्न" पद नं० ३२ तथा २।

श्रीजगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने खड़ी बोली के इस युग में ब्रजभाषा का वह स्वरूप अपने ग्रन्थ में रक्खा जो ब्रजभाषा का माधुर्य तथा साहित्योपयुक्तता प्रमाणित करने के लिये यथेष्ट है। आपके पूर्व के ब्रजभाषा कवियों ने क्रियाओं तथा कारकों की निश्चित एकरूपता की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया था, किन्तु रत्नाकरजी ने भाषा को साहित्यिक रखकर एक निश्चित एकरूपता प्रदान की। भूतकाल के लिये 'दीन', 'दियो' तथा 'दीन्ह्यो' तीनों ही रूप मिलते हैं किन्तु लिंग-निर्धारण तथा उच्चारण-निर्धारण की ओर आपने विशेष ध्यान नहीं दिया। साहित्योचित मर्यादा का ध्यान न रखकर, शब्दों को आवश्यकतानुसार परिवर्तित कर लिया गया है, किन्तु काव्य में शब्दों का संचयन तथा संगठन अपूर्व है। वाक्य-विन्यास के वैशिष्ट्य तथा वैलक्षण्य की प्रचुरता है। "चित्रोपमता" रत्नाकरजी के काव्य का सबसे बड़ा गुण तथा विशेषता है, प्रत्येक शब्द अपने पूर्व और परगामी शब्द का सहकारी होकर एक दूसरे की परिपुष्टि करता है। भाषा, भाव की पूर्णरूपेण अनुगामिनी है।

रत्नाकरजी के काव्य में ब्रजभाषा-लालित्य तो सर्वत्र दर्शनीय है ही, साथ ही साथ भाषा में प्रसाद और माधुर्य गुणों की प्रचुरता है। कुछ ऐसे नवीन और मार्मिक शब्दों की उद्भावना की गई है जो अत्यन्त भावाभिव्यञ्जक हैं। "भकुवान" शब्द अपनी अर्थव्यञ्जकता तथा चित्रोपमता की विशेषता रखता है। थहिबा, अकह, गहबर, सकस्योई आदि शब्द ब्रजभाषा की मुक्तक परम्परा के लिये नितान्त नवीन हैं। कहीं-कहीं शब्द-युग्मक को तोड़कर रूपान्तर के साथ पृथक् भी कर दिया गया है, यथा—

"हा! हा! इन्हें रोकन कौ टोंक न लगावौ"।

आपकी भाषा में चित्रोपमता तथा भावव्यञ्जकता अधिक पाई जाती है। विरह-भाव का वर्णन कितना मार्मिक है—

बिरह बिथा की कथा अकथ अथाह महा,
कहत बनै न जो प्रबीन सुकबीन सौं।
कहै रतनाकर बुझावन लगै ज्यों कान्ह,
ऊधौ कौं कहन हेत ब्रजजुवतीन सौं।

गहबरि आयौ गरौ भभरि अचानक त्यौं,
प्रेम परचौ चपल चुचाइ पुतरीन सौं।
नैंकु कही बैनन, अनेक कही नैनन सों
रही सही सोऊ कहि दीनी हिचकीन सौं।

भाषा में प्रवाह तथा गति देखिये—

भेजे मनभावन के ऊधव के आवन की,
सुधि ब्रज गाँवनि मैं पावन जबै लगीं।
कहै रतनाकर गुवालिनि की औरि औरि,
दौरि दौरि नन्द पौरि आवन तबै लगीं।

× × × ×

हमकौं लिख्यौ है कहा, हमकौं लिख्यौ है कहा,
हमकौं लिख्यौ कहा, कहन सबै लगीं।

चित्रोपमता तथा सजीव चित्रण—

प्रेम मद छाके पग परत कहाँ के कहाँ,
थाके अंग नैननि सिथिलता सुहाई है।
कहै रतनाकर यौं आवत चकात ऊधो,
मानौ सुधियात कोऊ भावना भुलाई है।
धारत धरा पै ना उदार अति आदर सौं,
सारत बहोलिनि जो आँस अधिकाई है।
एक कर राजै नवनीत जसोदा को दियौ,
एक कर बंसी बर राधिका पठाई है।

अलंकार

भाषा में अलङ्कारों का प्रयोग भाव को सरल और सुस्पष्ट करने के लिए होना चाहिये। अकृत्रिम सरलता से स्वाभाविक रूप में अलङ्कारों का समावेश सराहनीय है, किन्तु भाव-व्यञ्जना को महत्त्व न देकर शब्द-क्रीड़ा या वाग्जाल फैलाने के हेतु ही अलङ्कारों का प्रयोग, भाषा को अस्वाभाविक और निर्जीव

बना देता है। सूरदास के पदों में अलङ्कारों का सरल तथा अकृत्रिम प्रयोग हुआ है तथा दृष्टिकूट पदों में क्लिष्ट कल्पना, पाण्डित्य, श्लेष और यमक का चमत्कार दिखाई पड़ता है। परमानन्ददास तथा नन्ददास के काव्य में क्लिष्ट कल्पना के कहीं दर्शन नहीं होते, सर्वत्र अलङ्कार अपने स्वाभाविक रूप में ही पाये जाते हैं। परमानन्ददासजी ने तो अपना इस विषय पर विचार स्पष्ट कर दिया है—भगवान् की भक्ति के लिये जिस प्रकार भक्तिभाव ही श्रेयस्कर है, अलङ्कार तथा अन्य परिधान ध्यान देने की वस्तु नहीं, उसी प्रकार काव्य में भी अलङ्कार का स्थान गौण है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, "भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण, और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होनेवाली युक्ति अलङ्कार हैं।"

"सूरदास" जी ने अधिकांश, सरलता से प्रयुक्त होनेवाले शब्दालङ्कार ही प्रयुक्त किये हैं। अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा तथा दृष्टान्तों का प्रचुर प्रयोग है। परमानन्ददास, नन्ददास आदि कवियों ने भी अधिकतर इन्हीं अलङ्कारों का प्रयोग किया है।

उपमा—अर्थालङ्कारों का मूलाधार उपमा ही है। इसका अर्थ है (उप) समीप से (मा) तौलना अर्थात् एक वस्तु के समीप दूसरी वस्तु को रखकर उसकी समानता प्रतिपादित करना।

"आई उघरि प्रीति कलई सी जैसे खाटी आयी" *

× × × ×

"अब मन भयो सिंधु के खग ज्यों फिरि फिरि सरत जहाजन" *
"सुनत जोग लखत ऐसे अलि! ज्यों करुई ककरी" *
"निरखति चंद चकोर ज्यों बिसरि गईं सब अंग" †

× × × ×

"संचित कर राख्यो उरु अंतर जैसे इत उत निकसि न जाय" †
"थोरी पूँजी हरै ज्यों तसकर, बहुरो रंग मरे पछिताय" †

---

* "भ्रमरगीतसार" सूरदास।
† परमानन्ददास।

रूपक—उपमेय में उपमान के निषेधरहित आरोप को रूपक कहते हैं, जैसे मुख चन्द्र है।

"तुम्हरे बिरह, व्रजनाथ अहो प्रिय ! नयनन नदी बढ़ी।
लीने जात निमेष कूल दोउ एते मान चढ़ी" ॥ (१)

"अश्रु सलिल बूड़त सब गोकुल सूर सुकर गहि लीजै" (२)

"अंतर गति की बिथा मानसी सो तन अधिक बिगोवै।
परमानन्द गोविन्द बिन, अँसुअन जल उर धोवै" (३)

"रोम रोम प्रति गोपिका ह्वै रहीं साँवरे गात।
कल्प-तरोवर साँवरौ व्रज बनिता भई पात
उलहि अंग अंग ते" ॥ (४)

"कीजै तौ अजातरूप-बाद बाद जो पै इहाँ,
जात-रूप प्रेम कौ परेखिबौ बिचारौ है।
बिषम बियोगानल-आँच मैं तपाइ हम,
याकौ तौ सुनारी-रीति-नीति सौं निखारौ है।
सारि मुख-बात, जरि॰ ब्रह्म-जाति हूँ 'रसाल',
तामैं ताइ ताइ बृथा देखिबौ तिहारौ है।
देखौ कृष्ण कठिन कसौटी लाइ ऊधौ ! कसि
खोटो खरौ प्रेम-हेम जौ हमारौ है"। (५)

"कृष्ण-बिरह की बेलि नई तो उर हरियाई।
सोचन अश्रु-बिमोचन दोउ दल बल अधिकाई ॥
पाइ प्रेमरस बढ़ि गई, तन-तरु लिपटी धाइ।
फैल फूटि चहुँधा छुई, बिथा न बरनी जाइ।
अकथ ताकी कथा (६)

---

(१) "भँवरगीत" नन्ददास। (२) "भ्रमरगीत-सार" सूरदास।
(३) परमानन्ददास। (४) "भँवरगीत" नन्ददास।
(५) "ऊधव-गोपी-संवाद" डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल'।
(६) "भ्रमर-दूत" सत्यनारायण "कविरत्न"।

वीप्सा—आदर, घबराहट, आश्चर्य, घृणा, रोचकता आदि प्रदर्शित करने के लिये किसी शब्द को दुहराना वीप्सा-अलङ्कार कहलाता है।

कहै 'रतनाकर' गुवारिन की झारि झारि,
दौरि दौरि नन्द पौरि आवन तबै लगीं। (७)

अनुप्रास—किसी वर्ण की क्रम से आवृत्ति को छेकानुप्रास कहते हैं।

"मधुकर कौन मनायौ मानै,
अबिनासी अति अगम अगोचर कहा प्रीति रस जानै
सिखवहु ताहि समाधि की बातैं जैहैं लोग सयाने
हम अपने ब्रज ऐसेहि बसिहैं बिरह बाय बौराने
सोवत जागत सपने सौं-तुख रहिहैं सो पति माने" *

"रैनि पपीहा बोल्यो री माई
नींद गई चिंता चित बाढ़ी सुरति स्याम की आई" *

"मानौ औ प्रमानौ और, जानौ अनुमानौ और,
औरई बखानौ ना ठिकानो कछू आपको" ×

"बिलखाती सनेह पुलकाती जसुमति माई,
स्याम बिरह-अकुलाती, पाती कबहुँ न पाई।
जिय प्रिय हरि दरसन बिना, छिन-छिन परम अधीर,
सोचति मोचति निस दिना, निसरतु नैनन नीर।
बिकल, कल ना हियें" ॥†

"कुवलय-कुल में से तो अभी तू कढ़ा है।
बहु विकसित प्यारे पुष्प में भी रमा है"‡

---

(७) "ऊद्धव-शतक" जगन्नाथदास 'रत्नाकर'।
*"भ्रमर गीत सार" सूरदास।
×"उद्धव-गोपी-सम्वाद" डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल'।
†"भ्रमर-दूत" सत्यनारायण 'कविरत्न'।
‡"प्रिय-प्रवास" अयोध्यासिंह उपाध्याय।

उत्प्रेक्षा—उपमेय में उपमान की संभावना उत्प्रेक्षा-अलंकार है।

"सुधि-बुधि तजि माथौ पकरि, करि-करि सोच अपार,
दृगजल मिस मानहुँ निकरि, बही बिरह की धार"।×

हेतूत्प्रेक्षा—उत्प्रेक्षा के इस स्वरूप में जो हेतु नहीं है, उसे ही हेतु मानकर सम्भावना करने को हेतूत्प्रेक्षा कहते हैं।

अब जो हरियाली है सो सब
आशा के कारण है
कुसुमितता, वह पूर्व-स्मृति को
किये पुलक धारण है।
वह आता है, यही सोचकर,
आ जाते हैं फल भी
ईश्वर जाने, अब क्या होगा,
भारी है पल पल भी।*

यमक—सार्थक होने पर भिन्न अर्थवाले स्वर व्यञ्जन-समुदाय की क्रमशः आवृत्ति को यमक कहते हैं।

"दीखै आतमा कुल प्रकास आतमा कुल हूँ
जगत् के द्यौस सो 'रसाल' तुम्हैं रातैं हैं।"†

अर्थान्तरन्यास—यदि सामान्य का विशेष से, विशेष का सामान्य से समर्थन हो तो अर्थान्तरन्यास-अलंकार होता है।

"पुनि कहे उत्तम साधु-संग नितही है भाई।
पारस परसे लोह तुरत कञ्चन ह्वै जाई।"‡

सम—यदि परस्पर अनुरूप वस्तुओं का योग्य संबंध वर्णन हो, कारण

×परमानन्द दास।
*"द्वापर" मैथिलीशरण गुप्त।
†"उद्धव-गोपी-सम्वाद" डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल'।
‡"भँवरगीत' नन्ददास।

के गुणानुकूल कार्य के गुण बताये जायँ तथा बिना अनिष्ट के आरब्ध कार्य की सिद्धि हो तो सम अलंकार होता है।

"मदन त्रिभंगी आपु हैं करी त्रिभंगी नारि"

× × × ×

"कोउ कहै रे मधुप होहिं तुमसे जो संगी।
क्यों न होहिं तब स्याम सफल बातन चतुरंगी"†

दृष्टान्त—यदि उपमेय, उपमान और उनके साधारण धर्मों का परस्पर बिम्बप्रतिबिम्ब भाव हो तो दृष्टान्त अलंकार होता है।

"मधुकर खेद करत है को यह,
टूटी प्रीति बहुरि जोरिये गाँठ गठीली होय।"*

पुनरुक्तवदाभास—भिन्न आकारवाले शब्दों के अर्थ में आपाततः सहसा पुनरुक्ति की प्रतीति को पुनरुक्तवदाभास शब्दालंकार कहते हैं।

"जोगविधि भानुजा सरस्वति ह्वै ज्ञान गिरा,
हिय-हिम सैल तै हमारै उमगानी हैं।"+

स्मरण—किसी वस्तु को देखकर तत्सदृश अन्य वस्तु के स्मरण को स्मरण अलंकार कहते हैं।

"बाबा की सौं के उनकी सौं आजु राति नहिं नींद परी,
जागत गनत गवान के तारे, रसना रटत गोविन्द हरी।

× × × ×

वह चितवनि वह रथ की बैठनि जब अक्रूर की बाँह धरी,
तेई ध्यान अंतरगति मेरे, बिसरत नाहिंन एक घरी।
परमानन्द प्रभु मोहिनी मूरति मुरली मनोहर स्याम हरी"॥*

---

*परमानन्द दास।
+"उद्धव-गोपी-संवाद" डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल'।
†"भँवरगीत" नंददास।

विषम—यदि दो विरूप पदार्थों का सम्बन्ध बताया जाय या कार्य और कारण के गुण अथवा क्रियायें परस्पर विरुद्ध हों या कार्यानुकूल फल की प्राप्ति न होकर अनिष्ट घटित हो जाय तो विषम अलंकार होता है।

"ब्रज की औरे रीति भई,
प्रात समै अब नाहिंन सुनियत प्रति गृह चलत रई,
× × × ×
परमानन्द स्वामी के बिछुरे बिधिना कछु और ठई।"

असंगति—कारण कहीं अन्यत्र और कार्य कहीं अन्यत्र हो तो असंगति अलंकार होता है।

"मुख अति मधुर मैल मन माहीं
हृदय कठोर दया जिय नाहीं"।

भंगपद श्लेष वक्रोक्ति—जो वक्रोक्ति श्लेष के कारण होती है उसे श्लेषमूला वक्रोक्ति कहते हैं। इस प्रकार की वक्रोक्ति में यदि पदों को भंग करने से श्लेष उत्पन्न हो तो भंगपद श्लेष वक्रोक्ति होती है।

"मगन दिखात सूधौ, मगन दिखात ऊधौ,
मगन दिखात कीन्हैं आपुही मैं आपको"।*
"एक ही अनंग साधि, साध सब पूरीं अब
और अंग-रहित अराधि करिहैं कहा" †

पदावृत्तिमूलक वीप्सा—इस प्रकार का वीप्सा में पदों की आवृत्ति के द्वारा घबराहट, आदर, घृणा, आश्चर्य तथा रोचकता आदि मनोभावों का प्रदर्शन किया जाता है।

"उझकि उझकि पद-कंजनि के पंजनि पै
पेखि पेखि पाती छाती छोहनि छ्वै लगीं।

---

* "उद्धव-गोपी-सम्वाद" डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल'।
† "उद्धव-शतक" जगन्नाथदास 'रत्नाकर'।

हमकौं लिख्यौ है कहा, हमकौं लिख्यौ है कहा,
हमकौं लिख्यौ है कहा, कहन सबै लगीं" ।×

परिष्कृता लोकोक्ति—प्रसंगवश लोकोक्ति का परिष्कृत रूप में ही प्रयोग परिष्कृता-लोकोक्ति अलंकार होता है।

दिपत दिवाकर कौं दीपक दिखावैं कहा,
तुम सन ज्ञान कहा जानि कहिबौ करै" ।×

विरोधाभास—दो वस्तुओं में वस्तुतः विरोध न रहने पर भी विरोध का वर्णन करना विरोधाभास अलंकार है।

"बिनु घनस्याम धाम धाम ब्रज मण्डल मैं
ऊधो नित बसति बहार बरसा की है" ।×

मालोपमा—यदि एक उपमेय की अनेक उपमानों से समता दिखायी जाय तो मालोपमा होती है।

"अहा ! गोपियों की यह गोष्ठी,
वर्षा की ऊषा-सी ।
व्यस्त ससम्भ्रम उठ दौड़े की,
स्खलित ललित भूषा-सी ॥
श्रमकर जो क्रम खोज रही हो,
उस भ्रम-शीला स्मृति-सी,
एक अतर्कित स्वप्न देखकर,
चकित चौंकती धृति-सी ।+

छन्द

सूरदासजी ने तीन भ्रमरगीतों की रचना की है—एक तो भागवत का

× "उद्धव-शतक" जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ।
+ "द्वापर" मैथिलीशरण गुप्त ।

ही अनुवाद है, अन्य दो मौलिक हैं। प्रथम में ज्ञान और वैराग्य की अधिक चर्चा है, किन्तु विजय भक्ति की ही होती है। गोपियाँ उद्धव की ज्ञान-चर्चा से प्रभावित नहीं होतीं, वरन् उद्धव ही गोपियों की भक्ति-भावना से अनुरंजित हो जाते हैं। यह भ्रमरगीत चौपाई, छन्दों में लिखा गया है।

चौपाई—यह मात्रिक छन्द है जिसके प्रत्येक पद में १६ मात्रायें होती हैं। अन्त में जगण (।ऽ।) अथवा तगण (ऽऽ।) का निषेध है, अर्थात् गुरु लघु (ऽ।) न होने चाहिये। अन्त में एक लघु होने से लय खटकने लगती है, परन्तु दो लघु साथ आ जाने से दोष-परिष्कार हो जाता है—

"हौं तुमपै ब्रजनाथ पठायौ, आतम ज्ञान सिखावन आयौ।
आपुहि पुरुष आपुहि नारी, आपुहि बानप्रस्थ ब्रतधारी।
आपुहि पिता आपुहि माता, आपुहि भगिनी आपुहि माता।
आपुहि पंडित आपुहि ज्ञानी, आपुहि राजा आपुहि रानी।"

अन्य दो भ्रमरगीत पदों में हैं, जिसमें द्वितीय अधिक महत्त्वपूर्ण है। अष्टछाप का लगभग सम्पूर्ण काव्य गेय पदों में लिखा हुआ है। कीर्तन के निमित्त रचित ये पद विभिन्न संगीतात्मक राग-रागिनियों के अन्तर्गत आते हैं। अष्टछाप में सबसे अधिक संगीत और शब्दों की अर्थानुगामिनी ध्वनि का सर्वाधिक मधुर गुण नन्ददास की भाषा में है। परमानन्ददास का भ्रमरगीत अधिकांश पदों में है, तथा भाषा सरल और मधुर है। उनका एक पद सारंग राग में दोहा-चौपाई के क्रम में भी लिखा मिलता है।

दोहा—दोहा भी मात्रिक छन्द है, जिसके विषम चरणों में १३ मात्रायें और सम या दूसरे और चौथे चरणों में ११ मात्रायें होती हैं। विषम चरणों के आदि में जगण (।ऽ।) वर्जित है। सम चरणों के अन्त में गुरु लघु होना चाहिये।

"**चौपाई**"—कमल नैन मधुबन पढ़ि आये, ऊधो गोपिन पास पठाये।
ब्रजजन जीवित हैं केहि लागी, रहते संग सदा अनुरागी।

"**दोहा**"—सबै सखी एकत भईं, निरखत स्याम सरीर।
आये चित के चोरना, कहाँ गये बलवीर।
ज्यों नलिनी पूरण समैं, बाढ़ी उदधि तरंग।
निरखति चन्द चकोर ज्यों, बिसरि गई सब अंग॥

नन्ददास जी ने अपने भँवरगीत की रचना मिश्रित छन्द में की है, किंतु प्रयुक्त छन्दों का कोई नाम नहीं दिया हुआ है। रचना का प्रथम छन्द तिलोकी और दोहे के मिश्रण से बना है जिसमें दो चरण तिलोकी और शेष चरण दोहे के हैं, अन्त में दस मात्रा की टेक है। शेष छन्दों में रोला और दोहा का सम्मिश्रण है—दो चरण रोला के, उसके बाद एक दोहा और नीचे दस मात्रा की टेक है। सूरदासजी ने भी इसी प्रकार का छन्द अपने दानलीला संयोग में प्रयुक्त किया है।

प्रथम छन्द—ऊधव को उपदेश सुनो ब्रजनागरी,
रूप सील लावण्य सबै गुन आगरी।
प्रेम भुजा रसरूपिणी उपजावनि सुख-पुंज,
सुन्दर स्याम विलासिनी नव वृन्दावन-कुंज
सुनो ब्रज नागरी॥

"**अन्य छन्द**"—जो मुख नाहिन हतो कहो किन माखन खायो,
पायन बिन गोसंग कहो बन-बन को धायो।
आँखिन में अंजन दयो गोर्वधन लयो हाथ,
नन्द जसोदा पूत हैं कुँवर कान्ह ब्रजनाथ।
सखा सुन स्याम के॥

श्रीसत्यनारायण 'कविरत्न' ने भी नंददास की भाँति इसी छन्द में अपना भ्रमरगीत रचा है। दो चरण रोला के तथा उसके बाद एक दोहा का योग, और अन्त में दस मात्रा की टेक है—

"श्री राधावर निजजन बाधा सकल नसावन।
जाको ब्रज मन भावन, जो ब्रज कौ मनभावन॥

रसिक सिरोमनि मन हरन, निरमल नेह निकुंज ।
मोद भरन उर सुख करन, अविचल आनँद पुंज ॥
रँगीलो साँवरो ॥"

'रत्नाकर' जी ने केवल घनाक्षरी या कवित्त नामक छन्द का प्रयोग किया। मुक्तक काव्य के लिये इस छन्द की उपयोगिता विख्यात है। "शृंगार" और "वीर-रस" दोनों के ही लिये यह अनुपयुक्त माना जाता है क्योंकि तनिक ही लयन्तर से यह दोनों रसों के अनुकूल हो जाता है।

कवित्त या घनाक्षरी की रचना के लिये छन्दशास्त्र में कोई भी व्यापक और निश्चित नियम नहीं है। यह वर्णिक वृत्त है—८, ८, ८ और ७ के क्रम से १६ और १५ पर विराम या यति होती है, तथा कुल वर्ण ३१ होते हैं। यह मात्राओं तथा गुरु, लघु मूलक गणों के प्रभाव से ही प्रभावित रहता है जिसका अंत में दीर्घ वर्ण श्रुति-सुखद होता है।

"चाव सौं चले हौ जोग चरचा चलाइबै कौं,
चपल चितौनि तैं चुचात चित चाह है।
कहै 'रतनाकर' पै पारना बसै है कछू
हेरत हिरैहै भख्यो जो उर उछाह है॥
अंडे लौं टिटेहरी के जै है जू विवेक बहि
फेरि लहिबे की ताके तनक न राह है।

"**रोला**"—इसके प्रत्येक छन्द में ११ और १३ के विश्राम से २४ मात्रायें होती हैं। जिस रोला के चारों चरणों में ग्यारहवीं मात्रा लघु हो उसे 'काव्यछन्द' कहते हैं। इसके चरणान्त में प्रायः दो गुरु रखे जाते हैं, पर अन्त में चार लघु या गुरु-लघु-लघु का क्रम भी मिलता है।

"**दोहा**"—दोहे के पहले और तीसरे अर्थात् विषम चरणों में १३, १३ तथा सम (दूसरे और चौथे) चरणों में ११, ११ मात्रायें होती हैं। विषम चरणों के आदि में जगण वर्जित है। सम चरणों के अन्त में गुरु-लघु होना चाहिये।

यह वह सिंधु नाहिं सोख जो अगस्त लियौ
ऊधो यह गोपिन के प्रेम कौ प्रवाह है ॥*

डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने भी इसी कवित्त-शैली को अपनाया है—

"ऊधो जू कहौ तो कैसो जोग कै कुजोग भयो,
रोग भयौ, कैसे भये ऐसे आप जातैं हैं।
अलख लगात ना लखात लख क्यौं हूँ तुम्हैं,
हौ तौ गुनवारे तऊ बेगुन की बातैं हैं ॥
दीखै आतमा कुल प्रकास आतमा कुल हूँ,
जगत के घौस, जो 'रसाल' तुम्हैं रातैं हैं।
बातैं हैं तिहारी ये अनोखी भंग रंग वारी,
रंग भंग वारी कै तिहारी घनी घातैं हैं ॥†

"हरिऔध" जी ने अपने "प्रियप्रवास" के हेतु संस्कृत के वर्णवृत्तों को ही चुना। भिन्न तुकान्त होते हुए भी इस काव्य में माधुर्य कम नहीं, जिसका कारण संस्कृत समस्त पदावली का संस्कृत के ही छन्दों में सुसज्जित होना है। कवि ने इसमें अधिकांश द्रुतविलम्बित, मन्दाक्रान्ता, मालिनी, वंशस्थ और वसंततिलका छन्दों का ही प्रयोग किया है।

द्रुतविलम्बित—इसमें बारह अक्षर होते हैं। प्रत्येक चरण में न भ भ र (||| S|| S |S) होता है, जिसे सुन्दरी भी कहते हैं।

"जगत् जीवन प्राण स्वरूप का—
निजपिता जननी गुरु आदि का ॥
स्व-प्रिय का प्रिय साधन भक्ति है।
वह अकाम महा-कमनाय है ॥"+

मन्दाक्रान्ता—में सत्रह अक्षर होते हैं। प्रत्येक चरण में म भ न त त

*"उद्धव-शतक" जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'
†"उद्धव-गोपी सम्वाद" डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल'
+"प्रिय-प्रवास" अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरि औध'

ग ग होता है । चार, छः और सात अक्षरों पर विराम होना चाहिये—

"विश्वात्मा जो परम प्रभु है रूप तो हैं उसी के ।
सारे प्राणी सरि गिरि लता बेलियाँ वृक्ष नाना ॥
रक्षा पूजा उचित उनका यत्न सम्मान सेवा ।
भावो-पेता परम प्रभु की भक्ति सर्वोत्तमा है ॥"*

मालिनी—यह पन्द्रह अक्षरों का वृत्त है, जिसके प्रत्येक चरण में न न म य य (।।। ।।। SSS ।SS) तथा यति आठ और सात अक्षरों पर हुआ करती है—

कब कुसुमित कुञ्जों में बजेगी बता दो,
वह मधुमय प्यारी बाँसुरी लाड़िले की ।
कब कल-यमुना के फूल वृन्दाटवी में,
चित पुलकितकारी चारु आलाप होगा ।*

वंशस्थविलम्—बारह अक्षरों का वृत्त है, तथा प्रत्येक चरण में ज त ज र (।S। SS। ।S। S।S) होता है—

बना किसी की यक मूर्ति कल्पिता,
करे उसी की पद सेवनादि जो ।
न तुल्य होगा वह बुद्धि दृष्टि से,
स्वयम् उसी की पद अर्चनादि के ॥*

वसंततिलका—यह चौदह अक्षरों का वृत्त है, इसके प्रत्येक चरण में त भ ज ज ग ग (SS। S।। ।S। SS) होता है—

जो प्राणि पुञ्ज निज कर्म निपीड़ितों से,
नांचे समाज वपु के पग सा पड़ा है ।

---

* "प्रिय-प्रवास" अयोध्यासिंह उपाध्याय ।

देना उसे शरण मान प्रलय द्वारा,
है भक्ति लोकपति की पद सेवनाख्या।

श्रीमैथिलीशरण गुप्त ने 'द्वापर' में 'सार' छन्द का प्रयोग भ्रमर-गीत प्रसंग में किया है।

सार—इस छन्द को ललित पद भी कहते हैं, यह मात्रिक छन्द है। इसके सम चरणों में सोलह तथा विषम चरणों में बारह मात्रायें होनी चाहिये, अन्त में दो गुरु भी आवश्यक हैं—

अहा! गोपियों की यह गोष्ठी,
वर्षा की ऊषा-सी।
व्यस्त ससम्भ्रम उठ दौड़े की,
स्खलित ललित भूषा-सी।†

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भ्रमरगीतकार जिस प्रकार भाव-व्यञ्जना में अद्वितीय रहे हैं, उसी प्रकार भाषा, अलंकार तथा छन्द-योजना में भी वे पीछे नहीं रहे। रामदहिन मिश्रजी एक स्थल पर लिखते हैं, "वक्तव्य यह है कि भाषा और भाव साथ चलते हैं। इनमें अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। कोई-कोई इनका तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं, क्योंकि भाव का पृथक्करण असम्भव-सा है।" पंत के अनुसार "भाषा भाव का सामञ्जस्य स्वरैक्य चित्रराग है"।

अलंकार काव्य की सौन्दर्य वृद्धि में सहायक होते हैं। भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में सहायक होनेवाली युक्ति अलङ्कार है। काव्य में अलङ्कारों का अपना पृथक् स्थान है। रवीन्द्रनाथ ठाकुरजी के अनुसार "साहित्य को अपने आप को सुन्दर रूप में अभिव्यक्त करना पड़ता है, उसे अलंकारों का, छन्दों और संगीतों का सहारा लेना पड़ता है, दर्शन और विज्ञान के समान निरलंकृत होने से उसका काम नहीं चल सकता"।

तल्लीनता काव्य का विशेष गुण है, तादात्म्य की अवस्था में हृदय स्वतः

† "द्वापर" मैथिलीशरण गुप्त।

भावुक और संगीत-प्रिय हो जाता है। काव्य को तल्लीनता प्रदान करने में संगीत या छन्द का भी हाथ रहता है। काव्य की श्रुति-मधुरता ही हमें प्रथम आकर्षित करती है, और तत्पश्चात् हम उसके अर्थ-गाम्भीर्य पर ध्यान देते हैं।

"काव्यम् श्रुतम् अर्थो नावगतः" का यही तात्पर्य है। छन्दों की गति तथा लय काव्य को और भी आकर्षक बना देती है। संगीत और अर्थ-गाम्भीर्य के ही कारण काव्य को बारम्बार पढ़ने में आनन्द आता है, किन्तु सर्वप्रथम हमें काव्य का संगीत ही अपनी ओर आकर्षित करता है।

भ्रमर-गीतों में वर्णन-सौष्ठव

भाव काव्य का प्राण है, परन्तु भाव किसी व्यक्ति, वस्तु या घटना का आश्रय लेकर या प्रकृति की पृष्ठ-भूमि पर आधारित होकर ही व्यञ्जित होता है। भावों की व्यञ्जना दो प्रकार से होती है—कथानक के अंग के रूप में और मुक्तक रूप में। भ्रमर-गीतों में आई हुई भाव-व्यञ्जना अधिकांश पहले प्रकार की, कथानक के अंग रूप में ही है।

कोई भी वर्णन, चाहे स्वतन्त्र रूप में हो या कथानक के अंगरूप में, मनोरञ्जनकारी होने के लिए भावात्मक होना आवश्यक है। कुछ वर्णन इतिवृत्तात्मक होते हुए भी, हृदय की कोमल कल्पना और भावनाओं का तादात्म्य न होने के कारण पाठक या श्रोता को तल्लीन नहीं बना पाते। अष्टछापी भ्रमर-गीतकारों के वर्णन न तो प्रबन्धात्मक कहे जा सकते हैं और न मुक्तक ही; वे कवि की भावानुभूति से अनुरञ्जित-परिस्थिति का सच्चा बोध करानेवाले तथा अल्प-कथा प्रसंग पर अवलम्बित चित्रात्मक वर्णन हैं। मुक्तक रूप में लिखे गये किन्तु एक कथा से संबंधित होने के कारण ये पूर्ण मुक्तक नहीं कहे जा सकते। भ्रमरगात के सम्पूर्ण वर्णन "स्वरूप-चित्रण", "चरित्र-चित्रण", "प्रकृति-चित्रण" या "वस्तु-चित्रण" के रूप में आते हैं।

स्वरूप-चित्रण

भ्रमरगीतों में पात्रों के रूप में आनेवाले व्यक्ति केवल तीन हैं—कृष्ण, उद्धव और गोपी। प्रसंगानुसार कभी-कभी कुब्जा का भी वर्णन आता है। राधिका को, जिनका वर्णन यत्र-तत्र मिलता है, एक विशेष गोपी कहना उचित होगा। अन्योक्ति अलंकार का आश्रय लेकर भ्रमर का सजीव चित्रण कहीं-कहीं हुआ है। सूरदासजी ने कृष्ण के स्वरूप का चित्रण कहीं अलग से नहीं किया, गोपियाँ ही उनकी याद में कृष्ण के स्वरूप का चिंतन करती हैं—

नयनन नंदनंदन ध्यान,
तहाँ लै उपदेस कीजै जहाँ निरगुन ज्ञान।
पानि पल्लव-रेख गनि गुन-अवधि-बिधि बंधान,
इते पर कहि कटुक बचनन हनत जैसे प्रान।
चन्द्र कोटि प्रकास मुख, अवतंस कोटिक भान,
कोटि मन्मथ वारि छवि पर, निरखि दीजति दान।

× × × ×

स्याम तन पटपीत की छबि करे कौन बखान,
मनहुँ निर्तत नील घन में तड़ित अति दुतिमान।
रास रसिक गोपाल मिलि मधु अधर करती पान,
सूर ऐसे रूप बिनु कोउ कहा रच्छक आन?

उपमानों का आश्रय लेकर इस प्रकार कृष्ण के स्वरूप-दर्शन का प्रयास किया गया है। उपमानों के परिचित तथा दृष्टि-गम्य होने के कारण यह वर्णन दुरूह न होकर सहज और स्वाभाविक है। गोपियाँ कभी-कभी कृष्ण के वन-चारण से लौटते हुए रूप का ध्यान करती हैं––

"एहि बिरियाँ बन तें ब्रज आवते,
दूरहिं ते वह बेनु अधर धर बारम्बार बजावते"

परमानन्ददास की गोपियाँ भी उनके इस स्वरूप को नहीं भुला सकतीं, सन्ध्या होते ही कृष्ण की स्मृति हो आती है––

"यह बिरियाँ बन ते आवते,
दूरहिं तें बर बेनु अधर धर बारम्बार बजावते।
कबहुँक केहूँ भाँति चतुर चित अति ऊँचे सुर गावते,
कबहुँक लै लै नाउँ मनोहर धौरी धेनु बुलावते।

× × × ×

उद्धव उनसे कृष्ण को भूल जाने के लिए कहते हैं, किन्तु गोपियाँ संगी कृष्ण को कैसे भुल सकती थीं––जिनके साथ उन्होंने अनेकों वर्ष बिताये थे

तथा जीवन के प्रत्येक कार्यकलाप में जिनका सहयोग था। गोपियों को बार-बार उन मनमोहन की याद आती है—

"मधुप बार बार सुरति आवे हरि की वह बानि।
सुन्दर मुख चंचल करि हँसि हँसि लपटानि॥
जा कारन गोकुल बसि परहरी कुलकानि।
सो गोपाल मधुबन बस मेटी पहचानि॥
तुमहूँ तो सुनियत हो यदुकुल के मानि।
परमानन्द नंदनंदन मिलवहु किन आनि॥"*

ऐसे भावात्मक वर्णनों के अतिरिक्त कृष्ण के स्वरूप का कोई नखशिख चित्रण परमानन्ददासजी के काव्य में नहीं मिलेगा। नन्ददासजी ने भी कृष्ण के स्वरूप-चित्रण का कोई विशेष प्रयास नहीं किया। उनकी भी गोपियाँ कृष्ण के स्वरूप ध्यान ही करती हैं—

"ऐसे में नन्दलाल रूप नैनन के आगे
आय गये छबि छाय गये पियरे उर बागे।"†

कवि, गोपियाँ और पाठक सभी कृष्ण के पीताम्बर-धारी स्वरूप से अपरिचित नहीं, "पियरे उर बागे" वाक्यांश के पठनमात्र से उनके मन में कृष्ण का ध्यान आ जाता है। नन्ददासजी ने एक स्थल पर कृष्ण के विराट् स्वरूप की झलकमात्र दी है—

"सुनत सखा के बैन नैन भरि आये दोऊ।
बिबस प्रेम आवेस रही नाहीं सुधि कोऊ॥
रोम रोम प्रति गोपिका ह्वै रहि साँवरे गात।
कल्प तरोरुह साँवरो ब्रज बनिता भईं पात
उलहिं अंग अंग तें"॥†

* परमानन्ददास, डा० दीनदयालुजी गुप्त के निजी संग्रह से।
† "भँवर-गीत" नंददास।

कृष्ण का शरीर कल्पवृक्ष के समान है, उसमें गोपियाँ हरेभरे पत्तों की भाँति सुशोभित हैं।

सत्यनारायणजी "कविरत्न" ने भी कृष्ण के स्वरूप-चित्रण की अपेक्षा गुण-चिन्तन को अधिक महत्त्व दिया। उनका भ्रमर-गीत गुण-चिन्तन से ही आरम्भ होता है—

"श्री राधावर निज जन बाधा सकल नसावन।
जाको ब्रज मनभावन जो ब्रज को मनभावन॥
रसिकसिरोमनि मनहरन, निरमल नेह निकुंज।
मोद भरन उर सुखकरन अविचल आनँदपुंज॥
रँगीलो साँवरो"॥

श्रीमैथिलीशरण गुप्त की गोपियों का कृष्ण-स्मरण इतना अधिक भाव-चित्रात्मक है कि पाठक को कृष्ण के स्वरूप का ज्ञान न होकर, गोपी-कृष्ण-मिलन की तल्लीनता, तन्मयता और मधुरता का आभास मिलता है—

नई अरुणिमा जगी अनल में,
नवलोज्ज्वलता जल में।
नभ में नव्य नीलिमा, नूतन
हरियाली भूतल में।
नया रंग आया समीर में,
नया गन्ध गुण छाया।
प्राण-तुल्य पाँचों तत्त्वों में,
वह पीताम्बर आया।

"हरिऔध" जी ने भी कृष्ण के स्वरूप का विराट् चित्रण नहीं किया है। गोपियाँ कृष्ण की याद करती हैं किन्तु गुण-कथन के द्वारा। उन्हें वंशी की याद आती है क्योंकि उसकी ध्वनि उन्हें मुग्ध कर देती थी, इसलिये नहीं कि वह कृष्ण के कर-कमलों में सुशोभित रहती थी। राधिका प्रकृति में प्रियतम का आभास पाकर आनन्दित होती हैं। किन्तु उनके चिन्तन के द्वारा कृष्ण का स्वरूप सम्मुख नहीं आता—

"कंजों का या उदित-विधु का देख सौन्दर्य आँखों।
या कानों से श्रवण करके गान मीठा खगों का॥
मैं होती थी व्यथित अब हूँ शांति सानंद पाती।
प्यारे के पाँव, मुख मुरली-नाद जैसे उन्हें पा"॥

जगन्नाथदास 'रत्नाकर' जी की गोपियाँ कृष्ण के स्मित मुख पर मुग्ध हैं—

"एक ब्रजचंद कृपा मंद मुसकानि ही मैं,
लोक-परलोक कौ अनंद जिय जानैं हम"॥

गोपियों की स्मृति में भी कृष्ण के सम्पूर्ण स्वरूप का विशद चित्रण नहीं है। ब्रज की तथा ब्रज सुख के साधनों की विरह-व्यथा से व्याकुल कृष्ण का बड़ा मार्मिक, भावात्मक तथा चित्रात्मक वर्णन 'रत्नाकर' जी ने किया है—

आये भुजबंध दिये ऊधव सखा कै कंध,
डगमग पाय मग धरत धराये हैं॥
कहै "रतनाकर" न बूझैं कछु बोलत औ,
खोलत न नैनहूँ अचैन चित छाये हैं॥
पाइ बहे कंज मैं सुगंध राधिका कौ मंजु,
ध्याये कदली बन मतंग लौं मताये हैं॥
कान्ह गये जमुना नहान पै नये सिर सौं,
नीके तहाँ नेह की नदी में न्हाइ आये हैं॥*

कृष्ण ने किसी प्रकार उद्धव को समझा-बुझाकर ब्रज जाने के लिए सहमत किया—कृष्ण स्वयं प्रेम को त्यागकर ज्ञान ग्रहण न कर सके। उनके प्रेमाभिभूत विरह-व्याकुल हृदय से युक्त स्वरूप का चित्रण 'रत्नाकर' जी ने बड़ा सजीव किया है—

ऊधव कैं चलत गुपाल उर माँहि चल,
आतुरी मची सो परै कहि न कबीन सौं।

* "उद्धवशतक" जगन्नाथदास 'रत्नाकर'।

कहै 'रतनाकर' हियो हूँ चलिवै कौं संग,
लखि अभिलाष लै उमहिं बिकलीनि सौं ॥
आनि हिचकी ह्वै गरैं बीच सकस्योई परै,
खेद ह्वै रस्यौई परै रोम झँझरीनि सौं।
आनन दुवार तैं उसाँस ह्वै बढ़्यौई परै,
आँस ह्वै कढ्यौई परै नैन खिरकीन सौं ॥

भ्रमरगीत-रचयिताओं ने गोपी तथा ऊधव के स्वरूप-चित्रण पर भी विशेष ध्यान नहीं दिया, फिर भी यत्र-तत्र अन्य वर्णनों के साथ उनके स्वरूप तथा वेषभूषा का परिचय मिल ही जाता है। ऊधव को ब्रज में देखकर गोपियाँ भ्रम में पड़ जाती हैं—

है कोई वैसीई अनुहारि,
मधुबन तें इत आवत सखि री! चितौतु नयन निहारि।
माथे मुकुट, मनोहर कुण्डल, पीत बसन रुचिकारि।
रथ पर बैठि कहत साथिन सों, ब्रज तन बाँह पसारि ॥*

इसी प्रकार का वर्णन अष्टछाप के कवियों की रचना में प्राप्त होता है। परमानन्ददास ने भी ऊधव की रूपरेखा को कृष्ण के ही समान चित्रित किया है—

"जब रथ दृष्टि पर्‌यो ब्रजबाला।
कुण्डल मुकुट ओई बनमाला ॥
स्याम सरीर पीत उपरैना।
मनमोहन वेई कर बेना ॥"

स्वरूपसाम्य की इस धारणा का आधार भी भागवत ही ज्ञात होता है, भागवत की गोपियों ने ऊधव को पहली बार देखकर कृष्ण ही समझा था। 'रत्नाकर' जी ने उनकी ब्रज से लौटते समय तथा ब्रज पहुँचते समय की मानसिक अवस्थाओं का वर्णन तो अवश्य किया, किन्तु स्वरूप-चित्रण की

---

* "भ्रमरगीतसार" सूरदास।

ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है। 'हरिऔध' तथा गुप्तजी के काव्य में भी ऊधव के स्वरूप-चित्रण-सम्बन्धी छन्द नहीं मिलते।

गोपियों के स्वरूप-वर्णन का भी प्रयास किसी कवि ने नहीं किया, गुप्तजी ने अवश्य ही उनका एक सामूहिक भाव-चित्र प्रस्तुत किया है—

> "अहा ! गोपियों की यह गोष्ठी, वर्षा की ऊषा सी।
> व्यस्त-ससम्भ्रम उठ दौड़े की स्खलित ललित भूषा सी॥
> श्रम-कर जो क्रम खोज रही हो, उस भ्रमशीला स्मृति सी।
> एक अतर्कित स्वप्न देखकर, चकित चौंकती धृति सी॥"

इस वर्णन को पढ़कर गोपियों की मानसिक-विशृंखलता, विमुग्धता, किंकर्तव्यमूढ़ता तथा अस्तव्यस्त वस्त्रव्यवस्था की भावपूर्ण व्यञ्जना होती है। गुप्तजी के इस वर्णन में छायावादी अभिव्यञ्जनात्मक शैली का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। "वर्षा की ऊषा सी" में कैसा मार्मिक भाव है—यद्यपि गोपियाँ बहुरंगी वर्षाकाल के प्रातःकालीन अभ्रांशों की भाँति वस्त्र धारण किये हुए हैं—किन्तु हैं अश्रुपूर्ण, जलपूर्ण—कैसी व्यथा है ! किन्तु इस चित्रण में भी गोपियों की शारीरिक रूपरेखा का अधिक वर्णन नहीं है।

चरित्र-चित्रण

अष्टछापी कवियों ने गोपियों की भावनाओं का विशेषकर आत्माभिव्यञ्जक शैली में चित्रण किया है। गोपियाँ प्रियतम-वियोगिनी की प्रतीक हैं। वियोग का आधार जितना महान् होगा, वियोग की व्यथा भी उतनी ही तीव्र होगी। कृष्ण ऐसे शील, लावण्य और शक्तिपूर्ण व्यक्ति के वियोग में दुखित गोपियों की व्यथा का अनुमान करना सहज नहीं। कृष्ण गोपियों के बाल-सखा थे, उनकी भावनाओं का विकास साथ-साथ हुआ था, गोपियों के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कृष्ण का प्रवेश था, उनका प्रत्येक क्षण कृष्ण-दर्शन और चिंतन में बीतता था, फिर भला वे वियोग से अत्यन्त कातर क्यों न होतीं।

गोपियों के चरित्र का विकास व्यक्तिगत न होकर, सामूहिक रूप से कृष्ण की प्रेमिकाओं के रूप में हुआ था, जिनका वियोग के पूर्व का जीवन सब प्रकार से कृष्ण को प्रसन्न करने में ही बीता। उन्होंने शरीर, मन तथा वचन से कृष्ण की होकर रहना उचित समझा—मीरा ने भी अपना सर्वस्व त्याग कर केवल गिरधर को अपनाया था—

"मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई"

× × ×

तथा

"अब काहे की लाज सजनी, प्रकट ह्वै नाची"

उसी प्रकार गोपियाँ भी केवल श्रीकृष्ण के ही ध्यान में रहना चाहती हैं—

"जा दिन तें सुफलक सुत के संग रथ ब्रजनाथ पलान्यो।
ता दिन तें सब छोड़ मोह मिटि सुतपति हेत भुलान्यो॥
तजि माया संसार सार को, ब्रजबनितन ब्रत ठान्यो।
नयन मुँदे, मुख रहे मौन धरि, तन तपि तेज सुखान्यो॥
नंदनँदन मुख मुरली धारी, यहै रूप उर आन्यो।"

गोपियाँ कृष्ण के रंग में रँगी हैं। उनकी अभिलाषा कृष्ण-दर्शन की है, किन्तु यदि वे नहीं आते तो भी गोपियों को विश्वास है कि वे अन्य किसी को अपना प्रीति-भाजन नहीं बना सकतीं। गोपियों के चरित्र की यह दृढ़ता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। इसी एकाश्रयता ने उन्हें वाक्पटु, तर्कपटु तथा भावोक्तपूर्ण बना दिया है। सूर की गोपियों की तर्क-योजना भावनाओं के स्तर से अधिक ऊँची नहीं उठ सकी है, किन्तु नन्ददास की गोपियाँ बुद्धिसंगत तर्क उपस्थित करती हैं। ऊधव कृष्ण को ब्रह्मस्वरूप और निराकार बताते हैं किन्तु गोपियों के विचार में—

"जो मुख नाहिंन हतो कहो किन माखन खायो।
पायन बिन गो संग कहो बन-बन को धायो॥

आँखिन में अंजन दयो गोवर्धन लयो हाथ।
नन्द-जसोदा पूत हैं कुँवर कान्ह ब्रजनाथ
सखा सुन स्याम के ॥"

इसी प्रकार गोपियाँ कर्म और ज्ञान का खंडन कर भक्ति का प्रतिपादन करती हैं। कर्म का विभाजन पाप और पुण्य में हो सकता है, जो स्वर्ग और नरक का देनेवाला होता है, अतः कर्म को सोने और लोहे की बेड़ी के रूप में देखना चाहिये—

"कर्म पाप अरु पुण्य लोह सोने की बेरी"

'कविरत्न' जी ने गोपियों का स्थान यशोदाजी को दिया है। गुप्तजी की गोपियाँ प्रेमवियोगिनियों के रूप में सम्मुख आती हैं। 'हरिऔध' जी ने गोपियों को प्रेम में लीन, आत्मविस्मृत और वियोगिनी पाया, किन्तु राधा को उन्होंने एक नवीन चरित्र प्रदान किया है। राधाजी हमारे सामने एक साधारण मानवी और साथ ही साथ देवी के रूप में आती हैं। प्रिय से वंचिता वे उसी प्रकार हैं जिस प्रकार—

"हो जाती है रजनि मलिना ज्यों कलानाथ डूबे।
बाटी शोभा-रहित बनती ज्यों वसन्तान्त में है ॥"*

वे साधारण नारी हैं और उन्हें प्रिय का प्यार भी दुर्लभ हो गया, अतः वे विमना हो जायँ तो आश्चर्य ही क्या है—

मैं नारी हूँ तरल उर हूँ प्यार से वंचिता हूँ।
जो होती हूँ विकल विमना व्यस्त वैचित्र्य क्या है?*

ठीक इसी प्रकार गुप्तजी की गोपियाँ अत्यन्त विनीत होकर कहती हैं—

"कृपया वचन न मन में रखना, तुम अन्यान्य हमारे"

× × × ×

* "प्रियप्रवास" अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'।

"विवशों का मन, वाणी को भी, व्याकुल कर देता है।
आर्तों का आक्रोश ईश भी सुनकर सह लेता है ॥"†

गोपियाँ, स्वाभाविक ही कृष्ण की सुख-शांति के लिए उत्सुक हैं, जिसके लिए उन्हें अपने सुख-चैन का त्याग भी अभीष्ट है—

"सचमुच ही हम देख रही थीं, जगते-जगते सपना,
जहाँ रहे वह सुखी रहे वह, दुःख हमारा अपना"†

'हरिऔध' की राधिका अत्यन्त संयत और त्यागमयी हैं, तथा कृष्ण के पास पहुँचने की अभिलाषा को वे बड़े सरल ढंग से व्यक्त करती हैं—

"होते मेरे निबल तन में, पक्ष जो पक्षियों से।
तो यों ही मैं समुद उड़ती, श्याम के पास जाती"*

संयत होने पर भी उन्हें कामना की व्यथायें पीड़ित कर देती हैं—

"यत्नों द्वारा प्रतिदिन अतः संयता मैं महा हूँ।
तो भी देती विरह-जनिता वासनायें व्यथा हैं ॥"*

वे समस्त प्रकृति में प्रियतम कृष्ण का ही रूप पाती हैं, प्रेम जीवन का एक अनिवार्य अंग है, उसे काम-क्रीड़ा का हेतु बनाना अभीष्ट नहीं। प्रेम के विकास के साथ ही लोक-हित का भी ध्यान रखना आवश्यक है; यही भावना 'हरिऔध' जी की राधिका के चरित्र में प्राप्त होती है—

"प्यारे आवें सुवचन कहें प्यार से गोद लेवें।
टेढ़े होवें नयन, दुख हो दूर मैं मोद पाऊँ ॥
ये भी हैं भाव मम उर के और ये भी हैं।
प्यारे जीवें जग हित करें गेह चाहे न आवें*

---

* "द्वापर" मैथिलीशरण गुप्त।

† "प्रियप्रवास" अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'।

राधाजी एक दार्शनिक की भाँति इस समस्या का सुलझाव उपस्थित करती हैं—

"पाती हूँ विश्व प्रियतम में, विश्व में प्राणप्यारा।
ऐसे मैंने जगपति को, श्याम में है विलोका ॥"

यही कारण है कि राधिका अपनी चिंता में उतनी निमग्न नहीं हैं, जितनी जग-हित की—

"विश्वात्मा जो परम प्रभु है रूप तो हैं उसी के।
सारे प्राणी सरि गिरि लता बेलियाँ वृक्ष नाना ॥
रक्षा पूजा उचित उनका यत्न सम्मान सेवा।
भावोपेता परम प्रभु की भक्ति सर्वोत्तमा है ॥"

"उद्धवशतक" की गोपियाँ पूर्णतः भावमग्ना हैं, यद्यपि वे वाक्पटु हैं, फिर भी हृदय-पक्ष ही अधिक बलवान् है। ब्रह्म की ज्योति में उनका मन रमता ही नहीं, विपरीत इसके उद्धव के कहने-सुनने पर खीज ही उत्पन्न होती है—

"चेरी हैं न ऊधो ! काहू ब्रह्म के बबा की हम,
सूधौ कहे देति एक कान्ह की कमेरी हैं"†

गोपियों के अतिरिक्त इस प्रसंग में प्रमुख स्थान उद्धवजी का है, किन्तु इनके चरित्र में विशेष विकास नहीं दिखाई पड़ता। उद्धवजी कृष्ण के अभिन्नमित्र हैं और ब्रह्मज्ञानी भी, जिसका उन्हें अभिमान है। कृष्ण उन्हें ब्रह्मज्ञान-मर्दन के हेतु व्रज भेजते हैं जिसका प्रमाण कई भ्रमरगीतों में मिलता है। सूरदास-रचित कई पद इस विषय पर हैं—

"यदुपति जानि उद्धव रीति।
जिहिं प्रगट निज सखा कहियत करत भाव अनीति ॥
बिरह दुख जहाँ नहिं जामत नहीं उपजै प्रेम। †

---

† 'उद्धव-शतक' जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

रेख रूप न बरन जाके यहि धरयो वह नेम ॥
त्रिगुन तनु करि लखत हमको ब्रह्म मानत और ।
बिना गुन क्यों पुहमि उधरै यह करत मन डौर ॥
बिरह रस के मंत्र कहिये क्यों चलै संसार ।
कछु कहत यह एक प्रगटत अति भरयो अहंकार ॥"*

उद्धवशतक में कृष्ण जब मुरझाये कमल को देखकर मूर्च्छित हो जाते हैं तो उद्धव उन्हें समझाने का प्रयत्न करते हैं—

पाँचौ तत्त्व माहिं एक सत्य की ही सत्ता सत्य,
याही तत्त्व ज्ञान को महत्व स्तुति गायौ है ।
तुम तौ 'रत्नाकर' कहौ क्यों पुनि,
भेद पंचभौतिक के रूप में रचायौ है ॥
गोपिन मैं आप मैं वियोग औ सँजोग हूँ मैं,
एकै भाव चाहिये सचोप ठहरायौ है ।
आपु ही सौं आपकौ मिलाप औ बिछोह कहा,
मोह यह मिथ्या सुख दुख सब लायौ है ॥

उद्धव के इसी ब्रह्मज्ञान की कसौटी गोपियों का कृष्ण-प्रेम है, कृष्ण उनसे कहते हैं—

"आवो एक बार धरि गोकुल गली की धूरि,
तब इहि नीति की प्रतीति धरि लैहैं हम ।

'हरिऔध' ने भी उद्धव का परिचय बड़ी रुखाई से एक ही पंक्ति में दे दिया है—"ऊधौ संज्ञक ज्ञान-वृद्ध
उनके जो एक सन्मित्र थे"

'सूरदास' ने भी उद्धव के कथन की अधिक चर्चा नहीं की है। उनके ऊधो बिना शिष्टाचार के ही अपना कठिन संदेश सुना देते हैं। इसके विपरीत 'नन्ददास' और 'गुप्तजी' के उद्धव बड़े नीतिज्ञ और व्यवहार-पटु ज्ञात होते हैं—

---

* 'सूरसागर' वेंकटेश्वर प्रेस, दशम स्कन्ध पद नं० २८ ।

"ऊधौ को उपदेश सुनो ब्रजनागरी,
रूप-सील लावण्य सबै गुन आगरी।
प्रेम धुजा रसरूपिणी उपजावनि सुखपुञ्ज,
सुन्दर स्याम बिलासिनी नव वृन्दावन कुञ्ज
सुनो ब्रजनागरी"*

इस प्रकार उद्धव अपने कथन के समर्थन के लिए सुन्दर पीठिका तैयार कर लेते हैं। गुप्तजी के उद्धव ने गोपियों को क्या उपदेश दिया, इसका उल्लेख कहीं नहीं है। उन्होंने गोपियों की वेदना को अधिक बढ़ावा न देकर सहानुभूति ही व्यक्त की है—

"सच कहता हूँ मैंने अपना
राम तुम्हीं में पाया।
किन्तु तुम्हारा कृष्ण कहाँ, मैं
यही पूछने आया"

'रत्नाकर' के ऊधव ज्ञानी होते हुए भी भावुक हैं, ब्रज की प्रकृति-सुषमा, गोपी-भाव-सारल्य तथा प्रेमातिशयता देखकर वे भाव-विमोहित हो जाते हैं और उनकी समझ में नहीं आता कि इतना निर्मम सन्देश वे ऐसी प्रेमाभिभूत गोपिकाओं से कैसे कहें—

"दीन दसा देखि ब्रज-बालनि की ऊधव कौ,
गरिगौ गुमान ज्ञान गौरव गुठाने से।
कहे 'रतनाकर' न आये मुख बैन नैन,
नीर भरि ल्याये भये सकुचि सिहाने से॥
सूखे से सके से, सकबके से सके से थके,
भूले से भ्रमे से भमरे भकुवाने से।
हौले से, हले से, हूल हूले से हिये मैं हाय,
हारे से हरे से रहे हेरत हिराने से॥"

*'भँवरगीत' नन्ददास।

कृष्ण का चरित्र-विकास इस छोटे से प्रसंग में पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो सका। कृष्ण को इस प्रसंग के अन्तर्गत हम केवल दो रूपों में पाते हैं—प्रथम तो है रक्षक-रूप और दूसरा स्नेही तथा कृपालु रूप। गोपिकायें और कृष्णप्रेम के नाते ही एक सम पृष्ठभूमि पर आते हैं, अन्यथा उनमें कोई साम्य नहीं है। जिस प्रकार गोपियाँ कृष्ण-विरह में व्याकुल हैं, उसी प्रकार कृष्ण भी उनके अभाव से व्यथित और ब्रज को भुला सकने में असमर्थ हैं; इस तथ्य का चित्रण अनेक भ्रमरगीत-कारों ने किया है—

"हरि गोकुल की प्रीति चलाई,
सुनहु उपंगसुत मोहिं न बिसरत ब्रजबासी सुखदाई।
यह चित होत जाउँ मैं अबहीं, यहाँ नहीं मन लागत,
गोप सुग्वाल गाय वन चारत अति दुख पायो त्यागत।
कहँ माखन चोरी ? कहँ जसुमति पूतजेवँ करि प्रेम,
सूर स्याम के बचन सहित सुनि व्यापत आपन नेम।"

उद्धव-शतक के कृष्ण अत्यन्त भावुक और प्रेमी के रूप में सामने आते हैं। मुरझाये कमल को देखकर उनका मूर्च्छित होना तथा अन्य कार्य व्यापार उनके प्रेम में ओतप्रोत होने के प्रमाण हैं। व्रज-माधुरी के समक्ष द्वारिका के वैभव उनके लिए फीके हैं—

"मोर के पखौवनि कौ मुकुट छबीलौ छोरि,
    क्रीट मनि मंडित धराइ करिहैं कहा।
कहै 'रतनाकर' त्यौं माखन सनेही बिनु,
    षट-रस व्यञ्जन चबाइ करिहैं कहा॥
गोपी ग्वाल बालनि कौं झोंकि बिरहानल मैं,
    हरि सुरवृन्द की बलाइ करिहैं कहा।
प्यारौ नाम गोबिन्द गोपाल कौ बिहाइ हाय,
    ठाकुर त्रैलोक के कहाइ करिहैं कहा॥"

"हरिऔध" जी के द्वारा राधा और कृष्ण दोनों को ही नवीन चरित्र प्राप्त हुआ है। लोकरंजन के अतिरिक्त वे लोकसेवा के लिए सदैव तैयार

रहते हैं। हरिऔध ने कृष्ण को अवतार रूप में नहीं माना, वरन् एक महान् पुरुष के रूप में ही लिया है। समय की विचारधारा के अनुसार, उस समय की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों के सुलझाव के लिए एक मनस्वी की आवश्यकता थी, उसी अभाव की पूर्ति के हेतु "हरिऔध" जी ने अपने काव्य में कृष्ण-चरित्र प्रस्तुत किया है। उनके कृष्ण ने जन-सेवा के हेतु अपना सब कुछ त्याग दिया—

"हाथों में जो प्रिय कुँवर के न्यस्त हो कार्य कोई।
पीड़ाकारी सकल कुल का, जाति का बांधवों का॥
तो होके भी दुखित उसको वे सुखी हो करेंगे।
जो देखेंगे निहित उसमें लोक का लाभ कोई॥"*

कृष्ण ने जिन असुरों का संहार किया था, उनका विस्तृत वर्णन हरिऔधजी ने किया है। गोपियाँ कृष्ण के रक्षक-रूप का भी स्मरण करती हैं—

"विचित्र है शक्ति मुकुन्द देव में।
प्रभाव ऐसा उनका अपूर्व है॥
सदैव होता जिससे सजीव है।
नितान्त निर्जीव बना मनुष्य भी॥"*

वस्तु-चित्रण

"सूरदास" ने इस प्रसंग के कथानक का चित्रण बहुत कुछ भागवत के अनुसार ही किया है। कृष्ण एक दिन ब्रज प्रेम से विह्वल हो उद्धव को वहाँ भेजते हैं, जिसका उद्देश्य है एक पंथ दो काज अर्थात् व्यथित गोपियों को शांति प्रदान करना तथा उद्धव का ज्ञान-गर्व-मर्दन। ब्रज पहुँचने पर गोपियों के मध्य घिरे हुए उद्धव उन्हें ज्ञानोपदेश देते हैं। यहाँ तक के प्रसंग के बाद सम्पूर्ण कथानक में गोपियों की मनःस्थिति का भावात्मक चित्रण है। गोपियाँ पूर्व-पक्ष और उत्तर-पक्ष दोनों को स्वयं ही कह लेती हैं, तथा इसी प्रकार उनकी विरह-वेदना का प्रकाशन भी होता है। वे निर्गुण मत को अस्वीकार

* "प्रिय-प्रवास" अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध"

करके अपने सगुण-पक्ष का प्रतिपादन करती हैं और अन्त में ज्ञान-योग पर भक्तियोग की विजय होती है। प्रेम-रस में पगे उद्धव मथुरा लौटकर कृष्ण को गोपियों की विरहावस्था से अवगत कराते हैं तथा साथ ही उन्हें व्रज जाकर गोपियों को दर्शन देने की सलाह देते हैं।

"नन्ददास" ने इस कथानक में कुछ परिवर्तन किये हैं। उन्होंने कृष्ण और उद्धव का पूर्व वार्तालाप नहीं दिखलाया है। ऊधो के व्रज पहुँच जाने के बाद ही उनका भ्रमरगीत प्रारम्भ होता है। नन्द और यशोदा के दर्शन भी इनके भ्रमरगीत में नहीं होते; वे एकदम—

"ऊधो को उपदेश सुनो व्रजनागरी।
रूप सील लावण्य सबै गुन आगरी॥"

से कथा प्रारम्भ कर देते हैं। कृष्ण का नाम सुन गोपियाँ मूर्च्छित हो जाती हैं, चेतना प्राप्त होने पर उद्धवजी उन्हें ज्ञानोपदेश देते हैं। इसके बाद के प्रसंग में उद्धव के तर्कों का गोपियों द्वारा खण्डन में कवि ने बड़ी सजीवता तथा नाटकीयत्व का परिचय दिया है। गोपियाँ उद्धव को नास्तिक कहकर प्रलाप करने लगती हैं। इसी बीच एक भ्रमर प्रवेश करता है और फिर वही उनकी वेदना-विकृति का आधार तथा वाक्‌बाणों का लक्ष्य बन जाता है। इस प्रकार नन्ददासजी ने भी भक्ति की विजय ज्ञान पर दिखलाई है। उद्धव अपनी ज्ञान-चर्चा भूलकर गोपी प्रेम का गुणगान करते हुए मथुरा वापस लौटते हैं और कृष्ण को उनकी निष्ठुरता के लिए उलाहना देते हैं। इसके बाद कृष्ण अपने विराट् रूप का दर्शन उद्धव को कराते हैं। यहीं पर, इस कथा-प्रसंग के माहात्म्य वर्णन के पश्चात् काव्य समाप्त हो जाता है।

"परमानन्ददास" जी ने इस प्रसंग पर अधिक पद नहीं लिखे हैं। कथावस्तु का वर्णन उन्होंने भी लगभग अपने पूर्व-कवियों की भाँति ही किया है। गोपियाँ मधुप या मधुकर को सम्बोधित करके अपनी विरह-व्यथा प्रदर्शित करती हैं। एक स्थल पर शकुन के रूप में भी भ्रमर आया है—

"आज को नीकी बात सुनावे,

× × × ×

भँवरा एक चहूँ-दिसि उड़ि उड़ि कानि लागि लागि गावै।
भामिनि एक कहत सखियन सों नैननि नीर ढरावै।
परमानन्द स्वामी रतिनागर है ब्रजनाथ मिलावै ॥*

परमानन्ददासजी ने गोपियों के वात्सल्य-प्रेम की भी व्यञ्जना की है, तथा दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने अपने काव्य में उद्धव के ब्रज-गमन का काल निर्देश कर दिया है—

"कमलनैन मधुबन पढ़ि आये,
ऊधो गोपिन पास पठाये।"

आपकी रचनाओं में गोपी-विरह के पदों का आधिक्य है।

जगन्नाथदास "रत्नाकर" जी ने इस कथा को अपनी मौलिक उद्भावनाओं से अत्यन्त सजीव बना दिया है। कृष्ण का ब्रज-प्रेम और उद्धव का ब्रज-गमन वे अत्यन्त मौलिकता तथा मार्मिकता से चित्रित करते हैं—

न्हात जमुना में जलजात एक देख्यौ जात,
जाकौ अध-ऊरध अधिक मुरझायौ है।
कहै 'रतनाकर' उमहि गहि स्याम ताहि,
बास-बासना सौं नैंकु नासिका लगायौ है॥
त्यों ही कछु घूमि-झूमि बेसुध भए के हाय,
पाय परे उखरि अभाय मुख छायौ है।
पाए घरी द्वैक मैं जगाइ ल्याइ ऊधौ तीर,
राधा नाम करि जब औचक सुनायौ है॥

फिर कृष्ण का ब्रज-प्रेम क्रमशः प्रकट होता है और वे अपने ब्रज-जीवन की स्मृति में विभोर हो जाते हैं। इस पर ऊधव कृष्ण को ज्ञानोपदेश देते

* परमानन्ददास, डा० दीनदयालुजी गुप्त के निजी पद संग्रह से।

हैं; कृष्ण ज्ञानोपदेश को ग्रहण करने से विमुख तो नहीं होते, किन्तु ऊधव से व्रज जाकर पहले गोपियों को ज्ञानोपदेश देने का आग्रह अवश्य करते हैं। ऊधव इसके लिए तत्पर हुए किन्तु "व्रज के सिवाने" में ही उनकी ज्ञान-चर्चा अटक रही। वे गोपी-प्रेम के सम्मुख अपनी नीरस ज्ञान-चर्चा चलाने में सकुचाते हैं, किन्तु वाक्पटुता, शब्द-चातुरी और उक्ति-वैचित्र्य के आधार पर यह विवाद कुछ देर चलता रहता है और अन्त में विजय भक्ति की ही होती है। गोपियाँ कृष्ण को संदेश के साथ-साथ कुछ भेंट भी भेजती हैं। ऊधव व्रज से लौटकर गोपाल नाम भूल गोपी-नाम की चर्चा करते हैं और कृष्ण से एक बार व्रज जाकर गोपी-विरह-ताप शान्त करने के लिए प्रार्थना करते हैं।

"मैथिलीशरण गुप्त" सामञ्जस्यवादी कवि हैं, उनकी इस प्रवृत्ति के दर्शन हमें उनके काव्य में सर्वत्र प्राप्त होते हैं। "द्वापर" में इन्होंने उस युग के प्रधान चरित्रों को पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व प्रदान किये हैं। अतः काव्य में कथा का क्रमिक विकास नहीं हो सका। ऊधव यशोदा को सान्त्वना प्रदान करने में एक नवीन पद्धति का आश्रय लेते हैं। वे यशोदा को दुःख में भी सुखानुभव करने तथा संतोष रखने का सत् परामर्श देते हैं—

"अब यशोदे रोती है तू,
गर्व क्यों नहीं करती।
भरी भरी फिरती है
तेरे अंचल धन से धरती॥"×

पुत्र-प्रेमवंचिता देवकी के हेतु ऊधव यशोदा से अपना ममत्व संयत रखने की प्रार्थना करते हैं—"वह उस दुखिया को दुलरावे", यही उद्धव की इच्छा है।

भ्रमर का प्रवेश भी गुप्तजी ने नवीन रीति से कराया है—

"अभी विलोक एक अलि उड़ता
उसने चौंक कहा था।
सखि वह आया इस कलिका में,
क्या कुछ शेष रहा था?"×

× "द्वापर" मैथिलीशरणजी गुप्त।

गोपियाँ योग और भक्ति की चर्चा भी आपस में ही करती हैं, किन्तु उनके वार्तालाप में दार्शनिक पक्ष की प्रधानता नहीं है।

उद्धवजी किस प्रकार ब्रज से वापस लौटे तथा उनके मन की स्थिति क्या थी आदि प्रसंगों का कोई वर्णन गुप्तजी ने नहीं किया। राधिका का चित्रण गुप्तजी ने शिव के अर्धनारीश्वर रूप की ही भाँति किया है—

"यह क्या, यह क्या, भ्रम या विभ्रम !
दर्शन नहीं अधूरे ;
एक मूर्ति आधे में राधा
आधे में हरि पूरे।"*

जिससे प्रसंग बड़ा ही मार्मिक हो उठता है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने कथा-वस्तु में विशेष परिवर्तन नहीं किया। कथा में भागवत का अनुकरण तो अवश्य है, किन्तु कृष्ण अवतार के रूप में सामने नहीं आते। कृष्ण उद्धव को ब्रज जाकर गोपियों को सान्त्वना देने के हेतु प्रेरित करते हैं। उद्धव का ब्रज पहुँचने पर संध्याकाल का वर्णन बिलकुल भागवतानुसार ही है, किन्तु उस समय की प्रकृति-सुषमा वर्णन करने में हरिऔधजी बहुत अधिक इतिवृत्तात्मक हो गये हैं। ज्ञात होता है कि केशव की भाँति हरिऔधजी भी काव्य-परिपाटी के अनुसार केवल कुछ वृक्षों तथा पशु-पक्षियों के ही नाम गिनाने बैठे हैं। भ्रमर का प्रवेश इस प्रसंग में विशेष महत्त्व नहीं रखता। एक गोपी अपनी व्यथा व्यंजित करने में भ्रमर को भी कुसुम और कोयल की श्रेणी में ही ला रखती है—

"रोई आ के कुसुम ढिग औ भृंग के साथ बोली।
बंशी द्वारा भ्रमित बन के बात की कोकिला-सी॥
देखा प्यारे कमल पग के अंक को उन्मना हो।
पीछे आई तरणि-तनया तीर उत्कंठिता-सी॥×

---

* "द्वापर" मैथिलीशरण गुप्त।
× "प्रिय-प्रवास" अयोध्यासिंह उपाध्याय।

उपाध्यायजी की राधिका तो उद्धव की भाँति ज्ञानी हैं, और उल्टे उद्धव को ही ज्ञानोपदेश करती हुई सी ज्ञात होती हैं। इसी प्रसंग में हरिऔधजी ने कृष्ण-कथा को कुछ नवीनतायें प्रदान की हैं—रासलीला में केवल गोपियाँ ही कृष्ण के साथ नृत्य में मग्न नहीं होतीं, वरन् ग्वाले भी इसमें भाग लेते हैं। इस प्रकार यह प्रसंग नैतिक और सामाजिक दृष्टि से निन्द्य नहीं रह जाता।

सत्यनारायण 'कविरत्न' ने इस प्रसंग को नितान्त नवीन परिधान पहनाया है। उनके काव्य में तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थिति का प्रतिबिम्ब झलकता है।

कृष्ण मथुरा न जाकर द्वारिका गये हैं। उन्होंने बहुत दिनों तक अपना कोई समाचार न भेजा, जिससे यशोदाजी अत्यन्त विह्वल तथा चिन्तित हो जाती हैं। श्रावण मास की मनोहारिणी छटा ने चारों ओर अपना प्रसार कर लिया है। बालक-बालिकायें अपने-अपने खेलों में मग्न हो गये। ऐसी सुषमा में अपने पुत्र को न देखकर यशोदाजी व्यथित हो उठती हैं और कृष्ण-प्रेम में रुदन करने लगती हैं। अशिक्षिता होने के कारण वे विवश हैं। इसी प्रसंग में प्राचीन विदुषी नारियों के उदाहरण देकर सत्यनारायणजी स्त्री-शिक्षा का प्रचार करते हुए से ज्ञात होते हैं। यशोदाजी इस प्रकार विकल हो कृष्ण-ध्यान में लीन हो जाती हैं। भक्तवत्सल गोपाल माता की व्यथा देखकर स्वयं भ्रमररूप में वहाँ प्रकट होते हैं, यशोदाजी भ्रमर और कृष्ण के रूपसाम्य से प्रभावित होकर अपनी मनोवेदना भ्रमर से कहने लगती हैं। उनकी व्यथा-विकृति में "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" का सिद्धान्त प्रमुख हो जाता है।

"कविरत्न" जी उस समय की जनता के नेतृत्व अभाव तथा 'अपनी-अपनी ढपली अपना-अपना राग' की ओर भी संकेत करते हैं। अपने देश, देशभाषा और वेशभूषा के प्रति लोगों का अनादर तथा अवहेलना सत्यनारायणजी को अच्छी नहीं लगी। प्रकृति का कोप, समय पर वर्षा न होना आदि भी सत्यनारायणजी कृष्ण-अभाव के कारण ही मानते हैं। उन्होंने प्राचीन विदुषी स्त्रियों की तुलना गोपियों से की है, आधुनिक स्त्रियों में कोमलता और

सरलता का अभाव देखकर वे दुःखित होते हैं। आधुनिक आविष्कारों तथा दिनोंदिन बढ़ते हुए आर्थिक संकट के कारण ही व्रज की प्राकृतिक सुषमा नष्ट हो गई है। परतन्त्रता के कारण अपने देश में ही परदेश हो गया है—

"टिमटिमाति जातीय जोति जो दीप-सिखा-सी।
बहत बाहरी ब्यार बुझन चाहत अबला-सी॥
सेष न रह्यौ सनेह कौ, काहू हिय में लेस।
कासों कहिये गेह को, देसहि में परदेस
भयौ अब जानिये॥"×

प्रकृति-चित्रण

मानवीय भावों के क्रियाकलाप की पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति सदैव से ही आती रही है, उसे काव्य में स्वतंत्र स्थान बहुत कम मिला है। काव्य-परिपाटी के अनुसार विरह के उद्दीपन स्वरूप "बारह-मासा" तथा "षट्ऋतु" वर्णन हैं। इन वर्णनों का उद्देश्य केवल विरहोद्दीपन ही रहा करता था, फिर भी उद्दीपन के अतिरिक्त और अन्य रूपों में भी प्रकृति का वर्णन विरह-काव्य में होता रहा है। प्रकृति में साहचर्य और सहानुभूति की भावना और इसी भावना से सम्बन्धित उपालम्भ की मनोवृत्ति भी दीर्घकाल से चली आ रही है। उपालम्भ में प्रेम और स्नेह की एक गम्भीर भावना छिपी रहती है। प्रिय के सौन्दर्य निरूपण के हेतु, उपमान रूप में भी प्रकृति के उपकरणों का वर्णन होता है। भ्रमरगीत में उपालम्भ व्यंग्योक्ति या अन्योक्ति अलंकार के आधार पर वर्णित हैं, और इसी भाव-स्थिति में प्रेम, ईर्षा और विश्वास का सम्मिलित भाव उपालम्भ के रूप में व्यञ्जित हो उठता है।

"उद्दीपन-रूप में प्रकृति"—

भ्रमर-गीत में प्रकृति-चित्रण अधिकांश उद्दीपन रूप में ही हुआ है। गोपियों का उन्मुक्त जीवन प्रकृति की क्रोड़ में ही विकसित हुआ और स्वाभाविक रूप से ही वे प्रकृति से घुल-मिल गई थीं। इसी सम परिस्थिति में कृष्ण के

× "भ्रमर-दूत" सत्यनारायण कविरत्न।

मनोरंजनकारी स्वरूप का प्रवेश उनके जीवन में होता है। कृष्ण के विछोह में प्रकृति का वही समरूप विषम हो उठा, जिन कुञ्जों में बैठकर गोपियाँ कृष्ण के साथ केलि-रत रहती थीं, वही कुञ्जें अब दुःखदायिनी हो गईं। उन्हें देखकर गोपियों की विरह-व्यथा और भी उद्दीप्त हो उठती है—

"बिन गोपाल बैरिन भईं कुञ्जैं
तब ये लता लगति अति शीतल
अब भईं विषम ज्वाल की पुञ्जैं" ※

प्रिय की स्मृति स्वरूप प्रकृति, गोपियों की मिलनोत्कंठा को तीव्रतम बना देती है। सुखद वस्तुओं के दुःखदायी हो जाने का भाव कई पदों में मिलता है, फूल-ऐसी कोमल वस्तु भी उन्हें त्रिशूल हो गई—

फूल बिनन नहिं जाऊँ सखी री,
हरि बिन कैसे बीनौं फूल।
सुन री सखी मोहिं राम दुहाई
फूल लगत तिरसूल॥
वे जो देखियत राते राते,
फूलन फूली डार।
हरि बिनु फूल झार से लागत,
झरि-झरि परत अँगार॥ ※

पावस-ऋतु में हंस, शुक, पिक, सारिका और अलिपुञ्जों के साथ ही उन्हें कृष्ण का स्मरण हो आता है। उनकी विरह-व्यथा प्रिय का स्मरण कर तथा अपनी असमर्थता के कारण और भी उद्दीप्त हो उठती है—

"ऐसे माई पावस-ऋतु प्रथम सुरति कर, माधवजू आवै री"

निर्जीव पदार्थ तथा विजातीय प्राणियों में अपनी भावना, अपनी अनुभूतियों की छाया और अपने स्वभाव का आरोप करके मनुष्य को एक प्रकार की शांति का अनुभव होता है। वह अपने और प्रकृति के इस समभाव को स्वानुभूतियों से अनुरंजित देखता है। सूरदास की गोपियाँ ग्रीष्म, पावस आदि

※ "भ्रमरगीतसार" सूरदास।

ऋतुओं का आरोपण स्वयं अपने ऊपर करती हैं। अपने रुदन और अश्रु का साम्य उन्हें वर्षा ऋतु में दिखाई देता है—

"निस दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहत पावस-ऋतु हम पर, जब से स्याम सिधारे।"×

विरह की ज्वाला और अश्रुप्रवाह का साम्य ग्रीष्म और वर्षा-ऋतु के विवरण में मिलता है—

ब्रज तें द्वै ऋतु पै न गईं,
पावस अरु ग्रीष्म प्रचण्ड सखि! हरि बिनु अधिक भई।
ऊरध स्याम समीर नयन घन, सब जल जोग दुरे,
बरषि जो प्रगट किए दुख दादुर हुते जे दूरि दुरे।
बिषम बियोग दुसह दिनकर सम, दिन प्रति उदय करे,
हरि बिधु बिमुख भये कहि सूरज को तन ताप हरे।×

इस प्रकार प्रकृति के कार्यों का वर्णन गोपियाँ अपनी शरीर-दशा तथा भाव-दशा के आधार पर करती हैं। सत्यनारायण 'कविरत्न' जी के 'भ्रमर-दूत' में यशोदाजी भी प्रकृति-सौन्दर्य देखकर पुत्र-प्रेम में विह्वल हो जाती हैं। 'कविरत्न' जी सावन मास का वर्णन प्राचीन पद्धति के अनुसार ही करते हैं—

"पावन सावन मास नई उनई घन पाँती।
मुनि-मन-भाई छई, रसमई मंजुल काँती॥
सोहत सुन्दर चहुँ सजल सरिता पोखर ताल,
लोल लोल तहँ अति अमल दादुर बोल रसाल
छटा चूई परै॥

सावन में चतुर्दिक् हरीतमा का प्रसार, चातक, कोयल और केकी की पुकार, इन्द्रधनुष की बहुरंगी छटा से जाग्रत् यशोदा का पुत्रप्रेम बालिकाओं को झूलते और बालकों को गाय चराते, भौंरा-चकई खेलते देखकर और भी उद्दीप्त हो जाता है। बादलों के उमड़-घुमड़ कर उठने और फिर बरसने के भाव का सामञ्जस्य यशोदा के भावातिरेक से बड़ी सरलतापूर्वक दिखाया गया है—

× "भ्रमरगीतसार" सूरदास।

"लखि यह सुखमा-जाल लाल निज बिन नँदरानी ।
हरि-सुधि उमड़ी, घुमड़ी तन उर अति अकुलानी ॥
सुधि बुधि तजि माथौ पकरि, करि-करि सोच अपार ।
दृग-जल मिस मानहुँ निकरि, बही बिरह की धार
कृष्ण रटना लगी ॥"*

गुप्तजी की गोपियाँ भी बड़े सुन्दर अर्थव्यञ्जक शब्दों में प्रकृति-विपर्यय के इस भाव को प्रदर्शित करती हैं—

आना था तो तब आते तुम,
जब यमुना लहराती ।
अब तो भहराती जाती है,
देखो यह हहराती ॥
उड़ती है बस धूल आज तो,
कौन करे रस दोहन ।
आकर एक अलस्य लाभ सा,
गया भरम सा मोहन॥†

कृष्ण के अभाव के कारण प्रकृति के समस्त उपकरण जो पहले सुखद थे, अब दुःखदायी हो गये हैं । यमुना जल की कल-कल ध्वनि अब भहराती तथा हहराती हुई भय का संचार करती है ।

'रत्नाकर' जी ने कृष्ण-वियोगिनी गोपिकाओं के लिए सभी ऋतुओं का दुखदायी और विपरीत होना दिखलाया है । इन भावों के व्यक्तीकरण के हेतु षट्ऋतु वर्णन की भाँति ही उन्होंने प्रत्येक ऋतु पर एक छन्द लिखा है । ग्रीष्म और गोपियों की बिरह-तप्त अवस्था का सुन्दर साम्य निम्नांकित छन्द में दृष्टिगोचर होता है—

---

*"भ्रमर-दूत" सत्यनारायण 'कविरत्न' ।
† "द्वापर" मैथिलीशरण गुप्त ।

ठाम ठाम जीवन विहीन दीन दीसै सबै,
चलत चबाई बाह तापत घनी रहै।
कहै 'रतनाकर' न चैन दिन रैन परै,
सूखी पतछीन भई तरुनि अनी रहै॥
जख्यो अंग अब तौ बिधाता है इहाँ कौ भयौ,
तातें ताहि जारन की ठसक ठनी रहै।
बगर बगर वृषभान के नगर नित,
भीषम प्रभाव ऋतु ग्रीषम बनी रहै॥

इसी प्रकार "रत्नाकर" जी ने वसन्त, हेमन्त, ग्रीष्म, वर्षा तथा शरद्-ऋतु का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है। शब्दों का प्रयोग इतना उपयुक्त है कि उनमें तनिक भी परिवर्तन कर देने से भाव-सौंदर्य नष्ट होने की सम्भावना रहती है। वर्षा-ऋतु तथा गोपियों की अश्रुपूरित अवस्था का साम्य देखिये—

"रहति सदाई हरियाई हिय घाइन मैं,
ऊरध उसाँस सो झकोर पुरवा की है।
पीव-पीव गोपी परिपूरित पुकारती हैं,
सोई 'रतनाकर' पुकार पपिहा की है॥
लगी रहै नैननि सौं नीर की झरी औ,
उठै चित में चमक सो चमक चपला की है।
बिनु घनश्याम धाम-धाम ब्रजमण्डल में,
ऊधौ नित बसति बहार बरसा की है॥

"हरिऔध" जी की यशोदा गोपियों के ही समान दुःखित हैं। उन्हें प्रिय पुत्र से सम्बन्धित वस्तुओं को देखकर जो शोक होता है, उसकी व्यञ्जना कवि ने बड़े ही मार्मिक ढंग से की है—

"कालिन्दी के पुलिन पर की मञ्जु बृन्दाटवी की।
फूले नीले तरु निकर की, कुञ्ज की आलयों की॥

प्यारी लीला सकल जब हैं, लाल की याद आती।
तो कैसा है हृदय मलता मैं उसे क्यों बताऊँ॥

राधिका को तो सम्पूर्ण प्रकृति-सुषमा में अपने प्रियतम की छवि दिखलाई पड़ती है। कृष्ण की सद्भावना, दृढ़ता और उच्चता प्रकृति के विभिन्न उपकरणों में दृष्टिगोचर होती है—

ऊँचे-ऊँचे शिखर चित्त की उच्चता हैं दिखाते।
ला देता है परम-दृढ़ता मेरु आगे दृगों के॥
नाना क्रीड़ा निलय झरना चारु छींटें उड़ाता।
उल्लासों को कुँवरवर के चक्षु में है लसाता॥

भ्रमर-गीत प्रसंग पर लिखनेवाले लगभग प्रत्येक कवि ने प्रकृति का चित्रण विशेषकर उद्दीपन रूप में ही किया है कि किस प्रकार वियोगी हृदय के लिये संयोग काल की सुखद वस्तुएँ वियोग में पीड़ा का कारण बन जाती हैं।

"साहचर्य और सहानुभूति रूप में प्रकृति"—

परिस्थिति के अनुसार प्रकृति कभी-कभी मानवीय भावनाओं के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करती भी दिखलाई पड़ती है। मानव-हृदय अपनी समस्त वेदना-व्यथा तथा उल्लास प्रकृति के पास थाती रूप में सौंप अपना सारा हृदय प्रकृति के उदार और स्नेह-पूर्ण रूप के सम्मुख खोलकर रख देता है। प्रकृति के इस स्नेही और उदारपूर्ण स्वरूप के दर्शन भी अनेक भ्रमरगीतों में मिलते रहते हैं। वर्षा और शरद्‌ऋतु के आगमन में गोपियों को सहानुभूति का आभास मिलता है—

"ऊधो सरद समय हू आयो"
तथा
"बरु ये बदराऊ बरसन आये" आदि।

इस प्रकार के वर्णनों के अन्तर्गत प्रकृति को संदेहवाहक का कार्य सौंपना भी आ जाता है, क्योंकि सहानुभूति और समवेदना पर विश्वास

करके ही तो गोपियाँ अपने हृदय की वेदना उन उपकरणों के सम्मुख उन्मुक्त कर देती हैं। "सूर" की गोपियाँ तो चन्द्र, कोकिल तथा बादल आदि को अपना विश्वासपात्र मानकर कृष्ण को संदेश भेजना चाहती हैं।

"प्रियप्रवास" में पवन को दूत बनाने का प्रयास विशेष सफल नहीं हो सका है। "हरिऔध" की गोपी उद्यान में घूमती हुई कुसुम भृंग तथा कोकिला से अपने हृदय की व्यथा कहती है तथा उन्हें भी अपने दुख से दुखी पाती है। हरी-भरी पत्तियों के मध्य जूही की कली पर, किंजल्क-बिन्दुओं को देख उसे कली में अपने प्रति सहानुभूति का आभास होता है—

"क्या तू भी है रुदन करती यामिनी मध्य यों हा।
जो पत्ते में पतित इतनी वारि की बूँदियाँ हैं॥
पीड़ा द्वारा मथित उर के प्रायशः काँपती है।
या तू होती मृदु पवन से मन्द आन्दोलिता है॥"*

"द्वापर" की गोपियों के स्मरण रूप में भी प्रकृति उनके भावों के साथ सामञ्जस्य रखती है। नई उमंगों, नवीन भावनाओं से हृदय आन्दोलित है— गोपियों के मन में क्रीड़ा की उत्सुकता है। उन्हें अपने चारों ओर प्रकृति में भी ये ही भाव व्याप्त दिखलाई पड़ते हैं। साहचर्य भावना के प्रदर्शन में गुप्तजी ने छायावादी शैली को अपनाया है—

"नई तरंगें थीं यमुना में,
नई उमंगें ब्रज में।
तीन लोक से दीख रहे थे,
लोट पोट इस रज में॥
ऊपर घटा घिरी थी नीचे,
पुलक कदम्ब खिले थे।
झूम झूम रस की रिमझिम में,
दोनों हिले मिले थे॥"†

---

* "प्रिय-प्रवास" अयोध्यासिंह उपाध्याय।
† "द्वापर" मैथिलीशरण गुप्त।

प्रकृति के उपकरण गोपियों से सहानुभूति प्रदर्शित करते हैं तथा उनकी क्रीड़ाओं में सहयोगी भी हैं, कृष्ण के अन्तर्धान हो जाने पर—

"देर हुई तो चातक तक ने,
रह-रह शोर मचाया।
हँसा किन्तु भेदी पिक हा हा,
हू हू कर इतराया॥
तब केकी के नाच निकट ही,
कृपया पता बताया॥"

केलि में सहयोग देनेवाले उपकरण अब वियोग में दुखित हैं—

"सुनो वही कोकिल अब कैसा, ऊ ऊ कर रोता है।"

संयोग की साहचर्य और सहानुभूति भावना के अतिरिक्त वियोग में भी प्रकृति का सहानुभूति प्रदर्शित करना सूरदासजी ने व्यक्त किया है। वहा पपीहा जो पीव-पीव कर गोपियों की मिलनोत्कंठा तीव्र कर दुखित करता था, अब सहानुभूति प्रकट करता-सा प्रतीत होता है—

"बहुत दिन जीवौ, पपीहा प्यारे,
बासर रैन नाँव लै बोलत, भयो बिरह जुर कारो।
आपु दुखित पर दुखित जान जिय चातक नाम तिहारो,
देखौ सकल बिचारि सखी ! जिय बिछुरन को दुख न्यारो।
जाहि लगै सोई पै जानै प्रेम बान अनियारो,
'सूरदास' प्रभु स्वाति बूँद लगि, तज्यो सिंधु करि खारो॥"

तथा

"देखियत कालिन्दी अति कारी,
कहियो, पथिक ! जाय हरि सों ज्यों भई बिरह जुर जारी।
मनो पालिका पै परी धरनि धँसि, तरँग तलफ तनु भारी,
तट बारू उपचार चूर मनो, स्वेद प्रवाह पनारी।

बिगलित कच कुस कास पुलिन मनो, पंक जु कज्जल सारी,
भ्रमर मनो मति भ्रमत चहूँ दिसि, फिरति है अंग दुखारी।
निसिदिन चकई ब्याज बकत मुख, किन मानहु अनुहारी,
'सूरदास' प्रभु जो जमुना गति, सो गति भई हमारी।"

"उपालम्भ रूप में प्रकृति"—

प्रकृति का वर्णन कहीं-कहीं उपालम्भ के अन्तर्गत भी आया है।

उपालम्भ की भावना ब्याजोक्ति या व्यंग्योक्ति का आधार लेकर ही प्रकट हुई है। कृष्ण-वियोग में भी हरे-भरे रहनेवाले मधुवन को गोपियाँ गर्हित समझती हैं—

"मधुबन तुम कत रहत हरे,
विरह-वियोग स्यामसुन्दर के ठाढ़ेहि क्यों न जरे।"

उसी प्रकार वे व्यंग्योक्ति के सहारे अस्थिर प्रेम की भी निंदा करती हैं—

"मधुकर ! हम न होहिं वे वेली।
जिनको तुम तजि भजत प्रीति बिनु करत कुसुम रस केली॥"

"हरिऔध" जी की गोपी भी इसी भाँति निष्ठुरता का उपालम्भ देती हैं, किन्तु उनका वर्णन विशेष भावात्मक नहीं हो सका है—

"जब हम व्यथित हैं ईदृशी तो तुझे क्या ?
कुछ सदय न होना चाहिये श्याम बंधो॥
प्रिय निठुर हुए हैं दूर होके दृगों से।
मत निठुर बने तू सामने लोचनों के॥"

"उपनाम रूप में प्रकृति"—

मानवीय भावनाओं के साथ सौंदर्य की भावना तथा अन्य परिस्थितियों का सुस्पष्टता तथा सरलता से वर्णन करने के लिए उपमानों का आश्रय लेना होता है। ये उपमान या तो प्राकृतिक उपकरणों से लिये जाते हैं, या

अन्य जनजीवन से सम्बन्धित परिचित पदार्थों को समता के रूप में प्रदर्शित किया जाता है। लगभग प्रत्येक कवि के काव्य में प्रकृति का इस रूप में चित्रण पाया जाता है। गोपियाँ अपने विचारों और प्रकृति के उपकरणों को दृष्टान्त रूप में लेकर स्पष्ट करती हैं—

"ऊधो मनमाने की बात,
जरत पतंग दीप में जैसे, औ फिरि-फिरि लपटात।
रहत चकोर पुहुमि पर मधुकर ! ससि अकास भरमात ॥"

गोपियों ने सौन्दर्य की निधि कृष्ण का दर्शन किया था, वे अन्य किसी के सौन्दर्य-गुण पर कैसे रीझ सकती थीं।

कृष्ण के रूप के अन्तर्गत आये हुए प्रकृति के उपकरण कवि रूढ़ियों के आधार पर आये हैं—

"नयननि वहै रूप जो देख्यो,
तो ऊधो यह जीवन जग को साँचु सफल करि लेख्यो ॥
लोचन चारु चपल खञ्जन मनरञ्जन हृदय हमारे।
रुचिर कमल मृग मीन मनोहर स्वेत अरुन अरु कारे ॥"*

कभी-कभी उपमान प्रकृति-रूप में भी आये हैं। गोपियाँ अपने एकाश्रयता के भाव को प्रकृति के उपकरणों द्वारा ही व्यक्त करती हैं—

"हमरे हरि हरियल की लकरी,
मन बच क्रम नंदनंदन सो उर यह दृढ़ करि पकरी।
× × × ×
सुनतहि जोग लगत ऐसो अलि, ज्यों करुई ककरी ॥"*

परमानन्ददास तथा नन्ददासजी भी इसी प्रकार अलंकार-रूप में प्रकृति का वर्णन करते हैं। गोपियों ने ऊधव के आगमन को कृष्ण का आना समझा और प्रफुल्लित हो गई——

---

* सूरदास "भ्रमरगीत-सार"।

"सबै सखी एकत भई निरखत स्याम सरीर,
आये चित के चोरना कहाँ गये बलवीर।
ज्यों नलिनी पूरण समै बाढ़ी उदधि तरंग,
निरखति चंद चकोर ज्यों बिसरि गईं सब अंग ॥"†

इसके अतिरिक्त नेत्र-कमल, मुख-चन्द्र आदि उदाहरण प्रचुरता से उपलब्ध हैं।

"नन्ददास" जी ने भी "पुलकित आनन कमल" तथा "प्रेमबेली द्रुम फूली" आदि शब्दावलियों द्वारा उपमान-रूप में ही प्रकृति को अपनाया है।

"गुप्तजी" ने गोपियों की मन:स्थिति तथा शारीरिक स्थिति को दिखाने के लिए मालोपमा का आश्रय लेकर प्रकृति के उपकरणों के आधार पर सजीव चित्र उपस्थित किये हैं--

"अहा ! गोपियों की गोष्ठी,
वर्षा की ऊषा-सी ।*
× × ×
बद्ध वायु लहरी सी जिसको,
चौमुख वायु विलोड़े ॥*
× × ×
सम्पुटिता होकर भी अलि को,
धर न सकी नलिनी-सी ।
अथवा शून्यवृन्त पर उड़कर,
मड़राई अलिनी-सी ॥
पिक-रव सुनने को उत्कर्णा,
मधुपर्णा लतिका-सी ।*
× × ×
एक एक ब्रजबाला बैठी,
जागरूक ज्वाला-सी ।*

---

† परमानन्ददास, डा० दीनदयालुजी गुप्त के निजी पदसंग्रह से।
* "द्वापर" मैथिलीशरणजी गुप्त ।

प्रकृति के उपमानों का आधार लेकर, छायावादी पद्धति पर गुप्तजी ने एक सजीव चित्र हमारे मानस-पटल पर अंकित कर दिया है। संस्कृत के शब्द होते हुए भी 'मधुपर्णा और उत्कर्णा' में एक विशेष लालित्य है।

"हरिऔध" जी ने भी इसी पद्धति को अपनाया। यशोदा कृष्ण के लावण्यमय शरीर का चिन्तन बड़े सुन्दर और कोमल उपमानों के आधार पर करती हैं—

'मृदुल कुसुम-सा है औ तूने तूल सा है।
नव-किशलय सा है, स्नेह के उत्स सा है॥
सदय हृदय ऊधो श्याम का है बड़ा ही।
अहह हृदय माँ सा स्निग्ध तो भी नहीं है॥"†

राधा के विरह में कृष्ण की व्याकुल दशा का वर्णन 'रत्नाकर' जी ने इस पद्धति पर बड़े ही सुन्दर ढंग से किया है। सांगरूपक में प्रकृति के उपकरण ही उपमान-रूप में आते हैं—

"राधा मुख मञ्जुल सुधाकर के ध्यान की सौं
प्रेम 'रतनाकर' हियें उमँगत है।
त्यों ही बिरहातप प्रचंड सों उमड़ि अति,
ऊरध उसाँस कौ झकोर यौं जगत है॥
केवट विचार कौ बिचारौ पचि हारि जात,
होत गुन पाल तत्काल नभगत है।
करत गँभीर धरि लंगर न काज कछू,
मन कौ जहाज डगि डूबन लगत है॥"

"पृष्ठभूमि-रूप में प्रकृति"—

"हरिऔध" जी ने प्रकृति-वर्णन पर विशेष ध्यान दिया है, ऊधव के ब्रज पहुँचने पर वहाँ की सन्ध्याकाल की सुषमा का बड़ा ही अच्छा वर्णन उन्होंने किया है। गोपियों की स्मृति स्वरूप रासलीला आदि से सम्बन्धित

---

† "प्रिय-प्रवास" अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

प्रकृति-वर्णन तथा गोप आभीर आदि के क्रियाकलापों की पृष्ठभूमि होकर भी प्रकृति आई है। राधिकाजा तो सम्पूर्ण प्रकृति में श्याम को व्याप्त पाती हैं।

हरिऔधजी के वर्णन भावात्मक न होकर इतिवृत्तात्मक अधिक हैं। मध्यकालीन युग में जब केवल कल्पना का ही सहारा रह गया था, तभी प्रति-क्रिया रूप, वर्णन प्रधान शैली का आविर्भाव हुआ। "हरिऔध" जी के वर्णन केशव की भाँति काव्य-परिपाटी निभाते हुए से ज्ञात होते हैं। कहीं-कहीं तो केवल नाम से ही विदित होता है कि कवि अमुक वस्तु का वर्णन कर रहा है। वे सारे पशु-पक्षियों, लताओं, पादपों का केवल नाम गिनाकर ही प्रकृति-वर्णन सम्पूर्ण समझ लेते हैं—

"जम्बू अम्ब कदम्ब निंब फलसा जम्बीर औ आँवला।
लीची दाड़िम नारिकेल इमली औ शिंशुपा इंगुदी॥
नारंगी अमरूद बिल्व बदरी सागौन शालादि भी।
श्रेणिबद्ध तमाल ताल कदली औ शाल्मली थे खड़े॥"

वे कुरंग का वर्णन तो अवश्य करते हैं, किन्तु उपमान इस सत्य की पुष्टि नहीं कर पाते—

नितान्त सारल्यमयी सुमूर्ति में,
मिली हुई कोमलता सुलोमता।
किसे नहीं थी करती विमोहिता,
सदंगता सुन्दरता कुरंग की॥

केवल कुरंग शब्द आने पर ही हम समझ पाते हैं कि हरिण का वर्णन हो रहा है।

इस प्रसंग के अन्तर्गत आये हुए कवियों के वर्णन अतीव सुन्दर, चित्रोपम तथा सजीव हैं। अमूर्त भावनाओं का मूर्तीकरण सुन्दर ढंग से किया गया है। भावनाओं से अनुरंजित वर्णन मनोरम होता है, किन्तु इतिवृत्तात्मक वर्णन काव्य की रमणीयता से वंचित रह जाते हैं।

भ्रमर-गीतों में दार्शनिक पक्ष

मानव एक सीमित शक्ति बुद्धि और व्यापारों का केन्द्र है। वह चेतन अवश्य है किन्तु आनन्द से परे और इसी आनन्द लाभ के लिए वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति से इसकी खोज में तत्पर रहता है, किन्तु ऐश्वर्यादि षड्गुणों के अभाव में वह अपने प्रयास में सतत तो नहीं, किन्तु अधिकांश असफल ही रहा है। उसे सांसारिक आधि-व्याधियाँ, मोह-बन्धन आकर जकड़ लेते हैं और वह अपने को असहाय, निरवलम्ब तथा अशक्त पाकर सर्वशक्तिमान् का सम्बल ढूँढ़ता है। विभिन्न बौद्धिक विचारधाराओं ने उस शक्ति को निराकार ब्रह्म अथवा साकार ईश्वर मानकर भिन्न-भिन्न रूपों में परखा है।

भारतीय दर्शन में दो पक्ष स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं—"भावपक्ष" और "ज्ञानपक्ष"। प्रथम में हृदय प्रधान है तथा दूसरे में मस्तिष्क। ईश्वर, जिसका सभी सहारा खोजते हैं, सभी जिसके आश्रय को पाने के हेतु लालायित रहते हैं, केवल ज्ञानियों के तर्क का विषय होकर नहीं रह सकता। उपनिषद् जिसे नेति-नेति कहकर अपनी असमर्थता प्रकट करके शांत हो रहे, भावुक भक्त उसी की एक साकार प्रतिमा बनाकर अपनी सारी भावनाओं की बागडोर उसे थँभा, तन, मन, धन से पूर्ण आत्मसमर्पण कर देता है। उसे अपने अपराध्य में सदय हृदय के दर्शन होते हैं, जो विपन्नों, विपद्ग्रस्तों तथा निराश्रयों का सम्बल है। वर्णाश्रमधर्म से नियमित भारतीय जीवन किसी न किसी रूप में दर्शन के निकट रहता आया है। कवि का हृदय, जो स्वभाव से ही भावुक होता है, यदि शील, सौन्दर्य और शक्ति के अधिष्ठाता भगवान् की ओर उन्मुख हो उठे तो उसका गान सर्वश्रेष्ठ आश्रय को पाकर सर्वजनहितोपकारक हो जाता है। हिन्दी-साहित्य के भक्तिकाल को जन्म देनेवाली परिस्थितियों में राजनीतिक, सामाजिक तथा व्यक्तिगत निराश्रयता का भी बड़ा हाथ है। व्यक्ति को जब कोई सम्बल न रहा तो वह अपनी विपत्ति में समवेदनात्मक हृदय की खोज में तो निकल पड़ा और उसे भगवान् का आनन्द और ऐश्वर्य-

स्वरूप वरदहस्त उसकी रक्षा करता हुआ सा भासित हुआ। वह तार्किकों तथा तान्त्रिकों के ब्रह्म को छोड़ अपने उपास्य मर्यादा-पुरुषोत्तम राम या लीलावतार आनन्द-स्वरूप श्रीकृष्ण के गुणगान में लीन हो गया। अतः भक्तिकाल की रचनाओं में दर्शन का प्रत्यक्षीकरण प्रत्येक स्थान पर होता है। "भ्रमर-गीत" विरह-काव्य होते हुए भी दार्शनिक विचारधारा से पूर्ण है। सभी धर्मग्रन्थों में श्रेष्ठ भागवत के क्रोड़ में इस प्रसंग का जन्म हुआ और फिर काव्यक्षेत्र में इसका विस्तार। विभिन्न भ्रमरगीतकारों ने ज्ञान और भाव दोनों ही पक्षों का उद्घाटन किया है। कुछ कवियों की कृतियों में निर्गुण-सगुण का विवाद तथा ज्ञानयोग और भक्तियोग की महत्ता का विशेष वर्णन है। सूरदास, नन्ददास तथा जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने अपने भ्रमरगीतों में दार्शनिक पक्ष को ही प्रधानता दी है।

दार्शनिक पक्ष के विवेचन में इसके दो विभाग किये जा सकते हैं—"सिद्धान्त-पक्ष" और "साधन-पक्ष"।

सिद्धान्त-पक्ष के अन्तर्गत उद्धव के निर्गुण, निराकार ब्रह्म-सम्बन्धी विचार तथा गोपियों की सगुण-सरलता-सम्बन्धी विचारधारा का विवेचन आता है। साधन-पक्ष के अन्तर्गत गोपियों का सगुण साकार भगवान् की प्राप्ति के लिए भक्तिमार्ग का प्रतिपादन करना, तथा उद्धव की निर्गुण ब्रह्मोपासना तथा प्राप्ति विधि के पक्ष में ज्ञानयोग का समर्थन समाविष्ट है।

धर्म के तीन प्रधान अंग माने गये हैं—ज्ञान, भक्ति और कर्म। इनमें से किसी एक के अभाव में धर्म विकलाङ्ग हो जाता है। इन तीनों अंगों या परब्रह्म प्राप्ति के मार्गों का ध्येय च्युत होना भी सम्भव है, इन मार्गों में रहस्य या गुह्य का प्रवेश हो जाने से यही मार्ग लोक-संग्रह न करके लोक-बाधक बन जाते हैं।

'सूरदास" के आविर्भाव-काल की स्थिति का पर्यवेक्षण करने से ज्ञात होता है कि उनके पूर्व सिद्ध, साधु तथा योगी अपने विचार जनता के सम्मुख किसी न किसी रूप में रख ही चुके थे, किन्तु लोगों का मन तथा मस्तिष्क उन विचारों को पूर्णतः अपना न सका। किसी में कठिन शारीरिक यातना

थी तो किसी में शून्य निराकार का ध्यान जनता के समक्ष कोई निश्चित मार्ग न था। इस समस्या को सुलझाकर 'सूरदास' जी ने सीधा तथा सरल भक्ति-मार्ग लोगों को प्रदर्शित किया, जिस पर वे अपनी भावनायें तथा विश्वास केन्द्रित कर सकते थे। सूर ने निर्गुण का खंडन कर सगुण की स्थापना नहीं की, और न ज्ञान को ही भक्ति के सम्मुख निरर्थक सिद्ध करने का प्रयास किया है। तत्कालीन आवश्यकताओं के अनुकूल उन्होंने भक्ति के द्वारा सगुण ईश्वर की प्राप्ति का सहज मार्ग प्रदर्शित किया। कुछ आलोचकों ने सूर के भ्रमरगीत में योगियों की वेषभूषा तथा नियमों का सांगोपाङ्ग वर्णन पाकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वे पहले वज्रयान सम्प्रदाय में थे, किन्तु यह भी सत्य है कि सूरदासजी अपने समय की स्थिति से पूर्ण परिचित थे, उन्हें योगियों तथा सिद्धों के सिद्धान्तों का भी पूर्ण ज्ञान था, अतः वर्णन के ही आधार पर किसी निश्चय पर पहुँचना भ्रमपूर्ण होगा।

लगभग सभी भ्रमरगीतकारों ने सगुण-निर्गुण के विवाद को उठाया है और अंत में तुलसी के अनुसार—

'ज्ञानिहिं भगतिहिं नहिं कछु भेदा,
उभय हरहिं भव सम्भव खेदा।"

की समभूमि पर पहुँचकर समन्वय कर दिया है। फिर भी भक्ति की सरलता तथा उपयोगिता को ही अधिक श्रेयस्कर बताया है।

"वल्लभाचार्य" से पूर्व "शंकराचार्य" जी अपने विवर्तवाद का प्रतिपादन कर चुके थे। उन्होंने ब्रह्म को निरुपाधि निर्गुण तथा निर्विशेष ही माना है। वे ब्रह्म को न निमित्त कारण मानते हैं, न उपादान। ब्रह्म नित्य, एकरस, अविकारी है, वह न कर्ता है न भोक्ता।

"वल्लभाचार्य" जी ने उपनिषद् के वाक्यों और बादरायण के ब्रह्मसूत्रों को लेकर ही ब्रह्म को उभयलिंग-युक्त तथा निर्गुण और सगुण दोनों ही माना है। उन्होंने ब्रह्म में मनुष्य की बुद्धि को विपरीत जान पड़ते हुए, धर्म का आरोप किया है। वल्लभाचार्य ने ब्रह्म के सोपाधि, निरुपाधि; सगुण तथा

निर्गुण और व्यावहारिक तथा पारमार्थिक ऐसे दो भेद स्वीकार किये हैं। उपनिषद् के ज्ञानकाण्ड में भी ब्रह्म के स्वरूप का कथन कई ढंग का है। कहीं ब्रह्म अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अरस, अगन्ध, अदृश्य, अग्राह्य, अर्थात् निर्गुण और अव्यक्त कहा गया है, और कहीं सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वरस, सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान्, अर्थात् सगुण और सर्वरूप। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं ब्रह्म को उभयात्मक भी माना गया है।

शंकराचार्य ने निर्गुण और अव्यक्त ही को ब्रह्मलक्षण स्वीकार किया है, निरन्तर बदलते रहनेवाले नामरूपात्मक जगत् को ब्रह्म की सत्ता से भिन्न मिथ्या प्रतीति या भ्रांति रूप में माना है। जगत् की वास्तविक सत्ता न होते हुए भी मन की जिस वृत्ति द्वारा यह मिथ्या प्रतीति होती है, वह "विवर्त" है। शंकर ने ब्रह्म के अतिरिक्त सर्व जगत् को मिथ्या स्वीकार किया है।※ अतः इनके विचारों को "अद्वैतवाद" की संज्ञा दी गई है, इसे विवर्तवाद भी कहते हैं जिसकी प्रतिष्ठा उन्होंने परिणामवाद के विरोध में की थी। शंकराचार्य के विचार में ब्रह्म का पारमार्थिक स्वरूप नित्य, एकरस और अविकारी है। उसका परिणाम या विकार सम्भव नहीं, अतः ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकता। इसी प्रकार ब्रह्म सर्वकामनारहित, नित्य-शुद्ध बुद्ध-मुक्त होकर निमित्त कारण नहीं हो सकता—ब्रह्म न कर्ता है न भोक्ता। शंकराचार्य ने उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित सर्वज्ञ, सर्वकर्मा ईश्वर को ब्रह्म का पारमार्थिक रूप न मानकर अविद्यात्मक सोपाधि रूप माना है, इस प्रकार ब्रह्म के दो स्वरूप हो गये—"नामरूपादिभेदोपविष्ट" या सगुण और दूसरा "सर्वोपाधि-विवर्जित" अथवा निर्गुण। दूसरे प्रकार के निर्गुण, निराकार और निर्विशेष रूप को ही ब्रह्म का वास्तविक या पारमार्थिक स्वरूप माना है।× सोपाधि अथवा सगुण रूप को उन्होंने केवल व्यावहारिक अर्थात् उपासना के व्यवहार के लिए माना है।

※ "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या"

× द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते; नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं तद्विपरीतं च सर्वोपाधि-विवर्जितम्। अपि च यत्र तु निरस्तसर्वविशेषं परमेश्वरम् रूपं उपदिश्यते, भवति तत्र शास्त्रम्।"—शारीरिक भाष्य।

शंकराचार्य ने जीवात्मा और ब्रह्म के स्वरूप में कोई भेद नहीं माना है, वे ब्रह्म के समान आत्मा को भी नित्य, ज्ञानस्वरूप और विभु मानते हैं। जीवात्मा में कर्तृत्व को वे स्वाभाविक नहीं मानते, क्योंकि यदि कर्तृत्व स्वाभाविक हो तो वह जीव से उसी प्रकार पृथक् नहीं हो सकता जिस प्रकार ताप अग्नि से। कर्तृत्व दुःखस्वरूप है, अतः जीवात्मा का दुःखमुक्त होना असम्भव हो जायगा।

"वल्लभाचार्य" का सिद्धान्त शंकराचार्य से भिन्न है। वल्लभाचार्य ने उपनिषद् के वाक्यों और "बादरायण" के ब्रह्मसूत्रों को ही अपनाकर ब्रह्म को उभयलिंगयुक्त अर्थात् निर्गुण और सगुण दोनों ही माना है।† उनके अनुसार श्रुति-वाक्यों का समन्वय बादरायण के ब्रह्मसूत्रों में है। इन सूत्रों के आरम्भ में जिज्ञासा के उपरान्त "जन्माद्यस्य यतः" (जिससे इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है।) द्वारा जिस ब्रह्म का निर्देश किया गया है वह केवल निर्विशेष और निर्गुण नहीं हो सकता, सर्वशक्तिमान् और सर्वधर्मा भी हो सकता है। यही सर्वशक्तिमान् ब्रह्म कारण रूप में सर्वकर्ता और सर्वभोक्ता भी है। पुनः यह सृष्टि ब्रह्म की ही आत्मकृति है। सारी सृष्टि को वह केवल लीला के लिये ही रचता है ※। ब्रह्म का यह परिणाम-रूप जगत्, असत् या मिथ्या नहीं है। 'उसने अपने को स्वयम् किया है', 'बहुत हो जाना चाहिये', 'एक मैं हूँ बहुत हो जाऊँ' × आदिक श्रुति के वाक्यों से ब्रह्म का कर्तृत्व और कर्मत्व दोनों ही सिद्ध होते हैं। ब्रह्म का विकार यह सृष्टि ब्रह्म से अनन्य है; जिस प्रकार मिट्टी, मिट्टी के घड़े से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार यह जगत् भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है।

वल्लभाचार्य ने शंकराचार्य की भाँति ब्रह्म और जीव के स्वरूप में

---

† 'उभयव्यपदेशात् अहिकुण्डलवत्' इस ब्रह्मसूत्र के अनुसार वल्लभाचार्यजी ने—"यथा सर्पः ऋजुरनेकाकारः कुण्डलश्च भवति तथा ब्रह्मस्वरूपसर्वप्रकारभक्तेच्छया तथा स्फुरति। ××××× तस्मात् सकलविरुद्धधर्मा भगवत्येव वर्त्तन्त इति न कापि श्रुतिरूपं चरितार्थेति सिद्धम्"—अणुभाष्य।

※ "आत्मकृतेः परिणामात्" "लीलावत्तु कैवल्यम्"।

× "तादात्मानं स्वयमकुरुत", "बहुस्याम् प्रजायेय", "एकोऽहं बहुस्याम्"।

अभिन्नत्व नहीं माना है। वे "पादोऽस्य सर्वभूतानि" वेदवाक्य तथा "अंशो नानाव्यपदेशात्" ब्रह्मसूत्र के अनुसार ब्रह्म को सावयव मानते हैं और जिस प्रकार अग्नि से छोटी-छोटी चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से जीव उत्पन्न होते हैं। * वल्लभाचार्य ने इसी 'अणुत्व' का प्रतिपादन किया है। इसी कारण उनका भाष्य "अणुभाष्य" नाम से प्रसिद्ध हुआ। शंकराचार्य ने ब्रह्म को निरावयव माना है और जीवात्मा को ज्ञान-स्वरूप। किन्तु वल्लभाचार्य ने जीवात्मा को ज्ञाता माना है। जीवात्मा ब्रह्म से अनन्य भी है और भिन्न भी। यह भिन्नत्व अधिकत्व का है, ब्रह्म जीवात्मा से अधिक है ×।

दर्शन के क्षेत्र में वल्लभाचार्य जी की सबसे गहरी पहुँच उनके आविर्भाव-तिरोभाव के सिद्धान्त में है। अक्षर ब्रह्म अपने सत् चित् और आनन्द इन तीनों स्वरूपों का आविर्भाव और तिरोभाव करता है। तीनों स्वरूपों का विकास तीन भिन्न-भिन्न शक्तियों से होता है, 'सत्" का प्रकाश सन्धिनी से, "चित्" का संवित से और "आनंद" का ह्लादिनी से। पुरुषोत्तम ब्रह्म में ये तीनों शक्तियाँ अनावृत्त रहती हैं, जीव में सन्धिनी और संवित् अनावृत्त तथा ह्लादिनी आवृत्त रहती है।

इस व्यवस्था के अनुसार ब्रह्म और जीव को ग्रस्त करनेवाली "माया" जैसी कोई शक्ति नहीं है। जीवात्मा भी वस्तुतः ब्रह्म ही है जिसमें 'आनन्द' स्वरूप आवृत रहता है। इस प्रकार आत्मा और परमात्मा के शुद्ध अद्वैतवाद का प्रतिपादन करने से यह सिद्धान्त "शुद्धाद्वैतवाद" कहलाया।

भ्रमर-गीतों के सिद्धांत-पक्ष में शंकराचार्य के मत का आभास उद्धव की ज्ञानचर्चा तथा निर्गुण-मत प्रतिपादन में प्राप्त होता है। 'वल्लभाचार्य' के

'यथाग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिंगाः'

* 'विस्फुलिंगा इवाग्नेर्हि जड़जीवा विनिर्गताः।
सर्वतः पाणिपादान्तात् सर्वतोऽक्षि शिरामुखात्॥
निरिन्द्रियात् स्वरूपेण तादृशादिति निश्चयः।
संदशेन जडाः पूर्वं चिदंशेनेतरे अपि॥
अन्यधर्मतिरोभावान्मूलेच्छातोऽस्वतंत्रिणः।"

× "अधिकं तु भेदनिर्देशात्" (ब्रह्मसूत्र २-१-२८)

सगुण और सोपाधि ब्रह्म का प्रतिपादन गोपियाँ करती हैं। वल्लभ-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करनेवाले तीन प्रधान भ्रमरगीतकार हैं—सूरदास, नंददास और 'रत्नाकर'। ये तीनों कवि कृष्ण को ब्रह्म का अवतार या सगुण और साकार रूप मानते हैं। इनके पदों में निर्गुण ब्रह्म का ही पृथ्वी पर सगुण रूप में अवतरित होना मान्य है—

"वेद उपनिषद् यश कहैं, निर्गुनहि बतावैं,
सोई सगुन होय नंद की दाँवरी बँधावै।"

तथा

"हँसत गोपाल नंद के आगे नंदस्वरूप न जाने
निर्गुन ब्रह्म सगुन धरि लीला ताहिब सुत करि माने।"

उद्धव शंकराचार्य के 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' सिद्धांन्त से सहमत ज्ञात होते हैं। वे गोपियों से निर्गुण, निराकार तथा निर्विकार ब्रह्म की आराधना करने को कहते हैं, किन्तु वल्लभसम्प्रदायी 'सूर' के विचारों की प्रतिनिधि-स्वरूपा गोपियाँ उद्धव के सिद्धान्तों से सहमत नहीं हो पातीं—

गोपी सुनहु हरि को सँदेस,
कह्यो पूरण ब्रह्म ध्यावो त्रिगुण मिथ्या भेस।
मैं कहों सो सत्य मानहु त्रिगुन डारो नाष,
पाय त्रिय गुण सकल देही जगत ऐसो भाष।
ज्ञान विनु नर मुक्ति नाहीं, यह विषै संसार,
रूप रेख न नाम कुल गुन बरन अवर न सार।
मात पित कोउ नाहिं नारी, जगत मिथ्या ल्याइ,
सूर दुख नाहिं जाके भजो ताको जाइ॥ *

गोपियाँ इस जगत् को सत्य मानती हैं तथा जगत् के मिथ्यात्व और विवर्तवाद के भाव को अस्वीकार करती हैं, किन्तु उनके विचारों का आधार उनकी भावनायें ही हैं—

* सूरदास "भ्रमरगीतसार" आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

"यह मत जाइ तिनहिं तुम सिखवहु जिन ही यह मत सोहत।
सूर आज लौं सुनी न देखी पोत सूतरी पोहत ॥"

इसी प्रकार नन्ददास की गोपियाँ भी इस जगत् को वास्तविक मानती हैं क्योंकि यह सारी सृष्टि ब्रह्म का स्वरूप है, केवल अविद्या माया के कारण भिन्न ज्ञात होती है। वास्तव में जगत् ब्रह्म के सत् अंश का परिणाम है। ब्रह्म सत्य है, अत: जगत् भी सत्य है—

"मोमें उनमें अंतरो, एकौ छिन भरि नाहिं,
ज्यों देखों मों माँहि वे, तो मैं उनही माहिं।
तरंगिनि वारि ज्यों ॥*

नन्ददासजी भी शुद्धाद्वैत तथा अविकृत परिणाम का ही समर्थन करते हैं। उद्धव इस सारे जगत् को मिथ्या तथा प्रपंच निर्धारित करते हैं जिसके विपरीत गोपियाँ इस जगत् को सत्य मानती हैं जहाँ उन्हें ब्रह्म के अवतार कृष्ण का दर्शन हुआ है। कृष्ण के संसर्ग में गोपियों को सारी सृष्टि सजीव ज्ञात होती है। प्रकृति के अंतर में भी गोपियों को एक हृदय स्पन्दन करता हुआ प्रतीत होता है। उनके विचार में असत्य वस्तुएँ केवल दो हैं— "अविद्या माया" तथा "संसार"। माया भी दो प्रकार की है, एक तो ब्रह्म की आदि शक्ति स्वरूपा माया जो सृष्टि का सृजन, पालन और लय करती है तथा दूसरी है अविद्या माया जो कि मनुष्य से अहंता ममतात्मक संसार की सृष्टि कराकर उसके ईश्वरीय गुणों का आच्छादन करती है।

उद्धव ब्रह्म के निर्गुण होने की चर्चा करते हैं, गोपियाँ प्रत्युत्तर में उसकी सगुणता प्रतिपादित करती हैं तथा विद्या और अविद्या माया का परिचय देती हैं—

जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहाँ ते।
बीज बिना तरु जमे मोहिं तुम कहो कहाँ ते ॥
वा गुन की परछाहँ री माया दर्पन बीच।
गुन ते गुन न्यारे भये, अमल-वारि मिलि कीच।
सखा सुन श्याम के ॥*

* नन्ददास कृत "भँवरगीत"।

ईश्वर यदि निर्गुण है तो इस सृष्टि में गुण कहाँ से दिखाई पड़ते हैं जब कि समस्त विश्व उसी का अंश-मात्र है। वस्तुतः ईश्वर सगुण है और उसके गुण की परछाईं ही उसकी माया के दर्पण में पड़ रही है। ईश्वरीय गुणों से प्रकृति के गुण अविद्या माया के संसर्ग के कारण भिन्न दिखाई देते हैं। स्वच्छ जल के समान शुद्ध ईश्वरीय गुणों को, जो प्रकृति माया के माध्यम से परिणाम रूप में व्यक्त हो रहे हैं, अविद्या माया की कीच ने सान दिया है और इन्हीं विकृत गुणों को संसारी जन अपनाते हैं। नन्ददास ने परिणामवाद के साथ ही अविद्या माया के द्वारा उपस्थित किये गये भ्रम को भी स्वीकार किया है। मुक्ति चार प्रकार की मानी गई है "सालोक्य", "सामीप्य", "सारूप्य" और "सायुज्य"। भक्त जब चरम-विरह की व्याकुलता में आत्मविस्मृत हो जाता है तभी उसका एकीकरण भगवान् से हो जाता है। यह अवस्था जीवन-मुक्त होने पर प्रेम-भक्ति द्वारा इसी शरीर के रहते हुए एक प्रकार की "सायुज्य" अवस्था है। "सूर" आदिक वल्लभ भक्तों ने विरह की सायुज्य अवस्था तथा परमार्थ मुक्ति की सायुज्य अवस्था में ही सायुज्य माना है। सूर की गोपियाँ उद्धव की परमार्थ-चर्चा से ऊब जाती हैं और कहती हैं कि तुम्हें विरह और परमार्थ के सामीप्य का ज्ञान ही नहीं है—

"ऊधो व्रज की दशा बिचारो।
ता पाछे यह सिद्धि आपनी जोग कथा विस्तारो॥

× × × ×

कितनौं बीच विरह परमारथ जानत हौ किधौ नाहीं" †

गोपियाँ योग, ज्ञान, ब्रह्म तथा समाधि के विभेद को भी उसी प्रकार निरर्थक समझती हैं जिस प्रकार इस संसार के सारे कर्तव्य। मोह और ममत्व के दृढ़-पाश से मुक्ति पाकर वे कहती हैं—

"योगी होइ सो योग बखाने, नवधाभक्ति दास रति मानै।
भजनानन्द अली! हम प्यारौ, ब्रह्मानन्द सुख कौन बिचारौ॥"

† सूरदासकृत "भ्रमर-गीत-सार" आचार्य रामचंद्र शुक्ल।

परमानन्ददास की गोपी को तो—"सेवा मदनगोपाल की मुक्ति हू ते मीठी" लगती है।

इन अनेक प्रकार के आध्यात्मिक सुख और मोक्ष-अवस्था-विषयक विचारों के साथ-साथ "सूर" का यह भी मत है कि जो जिस भाव से भगवान् को भजता है उसको भगवान् उसी प्रकार से मिलते हैं तथा उसे इच्छित मोक्ष प्राप्त होता है—

"मधुकर कौन मनायो माने,
सिखवहु जाइ समाधि योग रस जे सब लोग सयाने।
हम अपने ब्रज ऐसेहि रहिहैं विरह वाय बौराने,
जागत सोवत स्वप्न दिवस निशि रहिहैं रूप बखाने।
बारक बाल किशोरी लीला शोभा समुद समाने,

जिनके तन मन प्रान सूर सुनि मुख मुसकानि बिकाने।
परी जो पय निधि अल्प बूँद जल सुगुनि कौन पहिचाने॥

सूर के ये भाव भगवत्गीता के "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" से पूर्ण साम्य रखते हैं। गोपियों को कृष्ण ध्यान में ही चारों प्रकार की मुक्तियाँ उपलब्ध हैं—

ऊधो सूधे नेकु निहारौ,
हम अबलानि को सिखवन आये, सुनो सयान तिहारो।
निर्गुण कहो कहा कहियत है, तव निर्गुण अति भारी,
सेवत सगुण स्यामसुन्दर को, मुक्ति लही हम चारी।
हम सालोक्य स्वरूप सरो ज्यों रहत समीप सदाई,
सो तजि कहति और की औरै तुम अलि बड़े अदायी।

× × ×

अहो अज्ञान कहति उपदेशत ज्ञान रूप हमहीं,
निशदिन ध्यान सूर-प्रभु को अति देखत जित तितहीं।

कृष्ण ने गोपियों के पास ऊधव को निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देने के हेतु साभिप्राय भेजा था कि गोपियों की प्रीति और तन्मयता देखकर ऊधव शिक्षा ग्रहण करें और सगुण-मार्ग की सरसता और सुगमता के सामने उनका निर्गुण-ज्ञानगर्व दूर हो—

"त्रिगुन तन करि लखति हमको ब्रह्म मानत और" *

जगत् से ब्रह्म को सदा अलग मानना, जगत् की नाना विभूतियों में उसे न स्वीकार करना, भक्ति मार्गियों के निकट बड़ी भारी भ्रान्ति है। वे तो गीता के—

"अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः"

भगवद्वाक्य के सम्बल के सहारे जीवन-यात्रा पूर्ण करते हैं।

उद्धव बात-बात में केवल एक ब्रह्म या अद्वैतवाद का राग अलापते हैं; किन्तु रसविहीनता से लोक-व्यवहार नहीं चलता और न साधारण बुद्धिवाले व्यक्तियों के लिये ऐसे उपदेश हितकारक होते हैं। निर्गुण ब्रह्म की इसी क्लिष्टता तथा नीरसता का परिचय गोपियों के वाक्यों द्वारा प्रकट होता है। ज्ञानी उद्धव को उचित था कि वे गोपियों की श्रद्धा को चलायमान करने का प्रयत्न न करते, श्रीकृष्ण स्वयम् इस मत के समर्थक हैं—

"प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥"×

कृष्ण ने उद्धव द्वारा गोपियों को यह समझाने का प्रयत्न किया कि ब्रह्म के ज्ञान बिना इस संसार में मुक्ति नहीं है—

"यह मत दै गोपिन कहँ आवहु, बिरह नदी भासति ।
सूर तुरत यह जाय कहौ तुम ब्रह्म बिना नहिं आसति" †

---

* सूरदास "भ्रमरगीतसार"
× श्रीमद्भागवत, अध्याय, श्लोक २६ ।
† सूरदास "भ्रमरगीतसार"

किन्तु पूर्ण प्रसंग पढ़ने से ज्ञात होता है कि "सूर" ज्ञान के अविचल स्तम्भ से भक्ति-प्रेम की विरह-व्याकुलता का परिचय कराना चाहते थे। सारे सांसारिक कर्तव्यों से विमुख कृष्ण-विरह में अनेकों आपदाओं को सहन करते हुए गोपियाँ कृष्ण की अनुयायिनी तथा आज्ञाकारिणी शिष्याओं की भाँति ज्ञात होती हैं। कृष्ण ने स्वयं कहा है—

"मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीनिर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥" ※

प्रेम-वियोगिनी गोपियां को मुक्ति से क्या लाभ, प्रत्यक्ष भगवान् कृष्ण को छोड़कर एक निराकार निर्गुण ब्रह्म की कल्पना करके उपासना करना उन्हें उसी प्रकार उपहासास्पद ज्ञात होता है जिस प्रकार दीवाल पर चित्रांकन करके उसी कल्पित चित्र की उपासना करना—

"नंदनंदन ब्रज छाँड़ि कै, हो को लिखि पूजै भीति"

इसके विपरीत ऊधव गोपियों को सहजोपासना का उपदेश देते हैं—

"अविगत अगह अपार आदि अवगत है सोई।
आदि निरञ्जन नाम ताहि रंजै सब कोई॥
नैन नासिका अग्र है, तहाँ ब्रह्म को बास।
अबिनासी बिनसै नहीं, हो सहज ज्योति परकास॥"

गोपियों को इस 'सहज ज्योति' का ज्ञान समझ में नहीं आता, उन्होंने अपने उपास्य को अवतारी ब्रह्म, प्रत्यक्ष और साकार देखा है फिर भला कैसे उद्धव की निराकारोपासना का समर्थन वे करें—

"चरन नहीं भुज नहीं कहौ ऊखल किन बाँधो।
नैन नासिका मुख नहीं, चोरि दधि कौने खाँदो॥
कौन खिलायो गोद, किन कहे तोतरे बैन।
ऊधो ताको न्याव है जाहि न सूझे नैन॥×

※ श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ३, श्लोक ३०।
× सूरदास "भ्रमरगीतसार"।

गोपियों को ऊधव की ज्ञानचर्चा अंधे के न्याय के समान लगती है जिसे स्वयम् तो कुछ दृष्टिगत होता नहीं केवल स्पर्श द्वारा वस्तु के जिस अंश का अनुभव वह करता है, उस वस्तु को वैसा ही बता देता है। इसके विपरीत, गोपियाँ कृष्ण से पूर्ण परिचित हैं, वे उनके अन्तर, बाह्य प्रत्येक रूप को जानती हैं। उन्होंने कृष्ण को विविध बाल-क्रीड़ायें करते तथा किशोरावस्था में चापल्ययुक्त भावभंगियों में रत देखा है।

वे एक ऐसी साकार और क्रियाशील मनोहर छवि के सम्मुख निर्गुण ब्रह्म की अव्यक्तता को कैसे स्वीकार करतीं। गोपियाँ अपने लिये योग-चर्चा को सर्वथा निरर्थक समझती हैं। उनसे 'जोग' अपनाने को कहना उसी प्रकार है जिस भाँति—

"बूचिहि खुभी, आँधरी काजर, नकटी पहिरै बेसरि।
मुडली पाटी पारन चाहै, कोढ़ी अंगहि केसरि॥
बहिरी सों पति मतै करै तो उत्तर कौन पै पावै?
ऐसो न्याव है ताको ऊधो जो हमैं जोग सिखावै॥"*

ऊधो जगत् को मिथ्या तथा ब्रह्म को सत्य मानते हैं, किन्तु गोपियाँ कृष्ण को ब्रह्म का अवतार तथा सारे जगत् को सत्य मानती हैं। गोपियों के अनुसार ब्रह्म ही इस जगत् का निमित्त और उपादान कारण है—

"कहाँ लौं कीजै बहुत बड़ाई,
अतिहि अगाध अपार अगोचर मनसा तहाँ न जाई।
जल बिनु तरंग, भीति बिनु चित्रन, बिन चित ही चतुराई,
अब ब्रज में अनरीति कछू यह ऊधो आनि चलाई।
रूप न रेख वदन वपु जाके, संग न सखा सहाई,
ता निर्गुन सो प्रीति निरंतर क्यों निबहै री माई।
मन चुभि रही माधुरी मूरति रोम-रोम अरु झाई,
हौं बलि गई सूर प्रभु ताके जाके स्याम सदा सुखदाई।*

---

* सूरदास "भ्रमरगीतसार"।

सूरदासजी ने गोपियों के प्रेमयोग तथा ज्ञानयोग का साम्य साथ बड़ी चतुराई से प्रदर्शित किया है—

"हम, अलि गोकुलनाथ अराध्यो,
मन बच क्रम हरि सों धरि पतिव्रत प्रेम योग तप साध्या।
मातु पिता हित-प्रीति निगम-पथ तजि दुःख सुख-भ्रम राख्यो,
मानऽपमान परम परितोषी अस्थिर थित मन राख्यो।
सकुचासन, कुलसील परस करि, जगत बंध करि वन्दन,
मानऽपवाद पवन-अवरोधन हित-क्रम काम निकन्दन।
गुरुजन कानि अगिनि चहुँ दिसि, नभतरनि ताप बिनु देखे,
विपत धूम-उपहास जहाँ तहँ, अपजस श्रवन अलेखे।
सहज समाधि बिसारि बपुकरी, निरखि निमेख न लागत,
परमज्योति प्रति अंग माधुरी धरत यहै निसि जागत। †

गोपियों ने तप के सारे आवश्यक उपकरणों को प्रेमयोग में अपना लिया है। सांसारिक सम्बन्धों के साथ ही साथ उनके सुख-दुःख की अनुभूति भी लुप्त हो गई थी। मानापमान के द्वन्द्व में उन्होंने अपना चित्त स्थिर रक्खा। मानापमान को प्रेमयोग में प्राणायाम में श्वास के समान स्थिर कर वश में कर लिया है। उनके चारों ओर लोकमर्यादा तथा गुरुजनों का संकोच और शील अग्नि की भाँति तप्त हो रहा है। कृष्ण का अदर्शन तरणि के समान है, इस प्रकार गोपियाँ पंचाग्नि तप कर रही हैं। अपने शरीर की सुध-बुध गँवाकर केवल कृष्ण की अंगमाधुरी का ध्यान करने में वे निर्निमेष हो गई हैं—

"त्रिकुटी संग भ्रूभंग, तराटक नैन नैन लगि लागे,
हँसन प्रकास, सुमुख कुण्डल मिलि चन्द्र सूर अनुरागे।
मुरली अधर श्रवन धुनि सो सुनि अनहद शब्द प्रमाने,
बरसत रस रुचि बचन संग, सुख पद आनन्द समाने।
मंत्र दियो मन जात भजन लगि, ज्ञान ध्यान हरि ही को,
'सूर' कहौ गुरु कौन करै अलि, कौन सुनै मत फीको।"†

† सूरदास "भ्रमरगीतसार"।

उद्धव को गोपियों का लौकिक प्रेम अनुचित जान पड़ता है, निदान वे कृष्ण की सर्वज्ञता और व्यापकता का बोध गोपियों को कराना चाहते हैं। कृष्ण अपने ब्रह्मस्वरूप से अणु-मात्र में व्याप्त हैं, उनकी एक व्यक्तिविशेष के रूप में आराधना करना अल्प ज्ञान और संकीर्णता है। इसके विपरीत, गोपियों को कृष्ण का अन्तर्यामी होना मान्य नहीं—

"जो पै ऊधो हृदय माँझ हरी,
तौ पै इती अवज्ञा, उनपै कैसे सही परी ?
तबहिं दवा द्रुम दहन न पाये, अब क्यों देह जरी ?
सुन्दर स्याम निकसि उर तें हम सीतल क्यों न करी ?
इन्द्र रिसाय वरस नैनन मग, घटत न एक घरी,
भीजत सीत भीत तन काँपत रहे, गिरि क्यों न धरी ?

उद्धव अपनी निर्गुण-चर्चा से विरत नहीं होते, निरन्तर अपनी ब्रह्म-चर्चा से गोपियों की प्रेम-ज्वाला को और भी तीव्र कर देते हैं। उनकी ज्ञान-चर्चा ब्रजवासियों के लिए न तो उपयोगी ही थी और न हृदयग्राहिणी हीं। जब गोपियाँ व्यंग्य, खीज, झुँझलाहट आदि मानसिक अस्त्रों को विफल होते देखती हैं, तो बड़ी शांतिपूर्वक उद्धव को समझाने का प्रयत्न करती हैं—

"या ब्रज सगुन दीप परगास्यो,
सुनि ऊधो ! भृकुटी त्रिबेदि तर, निसदिन प्रगट अभास्यो।
सब के उर सरबीन सनेह भरि, सुमन तिलीको बास्यो,
गुन अनेक ते गुन, कपूर सम परिमल बारह मास्यो।
बिरह-अगिनि अंगन सबके, नहिं बुझत परे चौमास्यो,
ताके तीन फुकैया हरि से, तुमसे, पंचसरास्यो।
आन भजन तृन सम परिहरि, सब करतीं जोति उपास्यो,
साधन भोग निरञ्जन ते, रे अंधकार तम नास्यो।
जा दिन भयो तिहारो आवन, बोलत हौ उपहास्यौ,
रहि न सके तुम सींक रूप ह्वै निर्गुन-काज उकास्यो।
बाढ़ी जोति सो केस देस लौं, टह्यो ज्ञान मवास्यो।

दुरवासना-सलभ सब जारे जे छै रहे अकास्यो।
तुम तो निपट निकट के बासी, सुनियत हुते सवास्यो,
गोकुल कहुँ रसरीति न जानत, देखत नाहिं तमास्यो।
सूर, करम की खीर परोसी, फिर फिर चरत जवास्यो ॥*"

"नन्ददास" जी के ऊधो उपदेश देने में अत्यन्त चतुर ज्ञात होते हैं, भ्रमर-गीत का आरम्भ ही ज्ञानोपदेश से होता है। एक अच्छे मनोवैज्ञानिक की भाँति, पहले वे गोपियों की प्रशंसा करते हैं और बाद में क्रमशः अपने मुख्य प्रसंग पर आते हैं। इस प्रकार पहले उद्धवजी गोपियों के शुभचिन्तक तथा विश्वासपात्र बनने का प्रयत्न करते हैं, जिससे गोपियाँ सरलता से प्रवाहित हो सकें। कृष्ण और बलराम की कुशलता का समाचार देते हुए उद्धवजी उनके शीघ्रागमन की सम्भावना बतलाकर गोपियों में आशा का संचार करते हैं।

नंददास ने इस प्रसंग का समावेश बड़ी चतुराई से किया है। जब वे उद्धवजी से गोपियों को प्रबोधन दिलवाते हैं तब प्रबोधन भी सान्त्वना के रूप में ही प्रतीत होता है। कृष्ण सर्वव्यापक तथा सर्वात्मा हैं, वे सर्वत्र विश्व में व्याप्त हैं अतः उनके लिये सांसारिक मोह और ममता का प्रदर्शन उचित नहीं, एक प्रकार से कृष्ण सदा ही गोपियों के पास रहते हैं। गोपियों को अपने चर्मचक्षुओं द्वारा नहीं प्रत्युत विवेक-चक्षुओं से श्रीकृष्ण को देखने का प्रयास करना चाहिये—

"वे तुमते नहिं दूर ग्यान की आँखिन देखौ" *

गोपियाँ तो बस प्रेम में मग्न हैं, ब्रह्म-ज्योति तथा ज्ञानमार्ग से वे सर्वथा अपरिचित हैं। गोपियों का प्रेममार्ग अत्यन्त सरल तथा सहज है, वे कृष्ण के सुन्दर रूप तथा अद्वितीय गुणों के चिन्तन में पूर्ण आत्मविस्मृत हैं अतः उन्हें ज्ञान तथा ब्रह्म की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती। गोपियों के रूप-गुण-गान को सुनकर उद्धवजी उन्हें प्रकाश में लाने के हेतु निरुपाधि ब्रह्म का

---

* नंददास "भ्रमरगीत"।

विश्लेषण कर ज्ञानोपदेश देते हैं। उनके इस प्रयास में शंकराचार्य के मिथ्या-वाद की झलक दृष्टिगोचर होती है। उद्धव के अनुसार ब्रह्म का सोपाधि तथा सगुणत्व होना वास्तविक नहीं—

"यह सब सगुन उपाधि रूप निर्गुन है उनको,
निरविकार, निरलेप लगत नहिं तीनों गुन को।
हाथ न पायँ न नासिका, नैन बैन नहिं कान,
अच्युत ज्योति प्रकास-हीं सकल बिस्व को प्रान
सुनो ब्रजनागरी॥"*

ब्रह्म का लीला के हेतु अवतार ग्रहण करने के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए उद्धव वल्लभमतानुयायी ज्ञात होते हैं, किन्तु ब्रह्मप्राप्ति का साधन बताने में वे पुष्टिमार्ग का प्रतिपादन नहीं करते। योग-साधन के द्वारा ही ब्रह्मत्व प्राप्त हो सकता है, अतः गोपियों को प्रेमयोग त्यागकर ज्ञानयोग अपनाना चाहिये। किन्तु गोपियाँ अपना प्रेम-योग तथा सगुणोपासना अमृत के सदृश हितकर तथा सुखकर मानती हैं, उद्धव के ब्रह्म-ज्ञान को धारण करना वे धूलि समेटना ही समझती हैं किंतु उद्धव धूरि को भी महत्त्व देते हैं।

"पञ्चतत्त्व यह अधम सरीरा। छिति, जल, पावक, गगन, समीरा"

तुलसीदास के समान उद्धव भी सम्पूर्ण जगत् को पञ्चतत्त्वों द्वारा निर्मित मानते हैं जिसमें धूरि या पृथ्वी का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

परब्रह्म-प्राप्ति या ईश्वर-प्राप्ति के तीन साधन—कर्म, ज्ञान, और भक्ति में उद्धव कर्म और ज्ञानमार्ग के अनुयायी हैं तथा गोपियाँ केवल भक्तिमार्ग का प्रतिपादन करती हैं। शुद्ध ज्ञानोपदेश के पश्चात् उद्धव गोपियों को नियत कर्म में रत रहने का आदेश देते हैं। इस स्थल पर उनका मत गीता के कर्म-योग सिद्धान्त से साम्य रखता है—

"नियतं कुरु कर्म त्वं, कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येत् अकर्मणः॥"

---

* नन्ददास "भँवरगीत"।

उद्धवजी भी 'कर्म करि हरि पद पावै' ही सम्मुख रखते हैं। किन्तु वास्तविक तो यह है कि गोपियाँ ही पूर्ण-योगी हैं, वे धर्म, कर्म सब कुछ त्याग कर कृष्ण-ध्यान में रत हैं, उनकी चित्तवृत्तियों का निरोध भी उद्धव की अपेक्षा अधिक दृढ़ है। कर्म के सम्बन्ध में गोपियों का एक ही विचार है—

"तब ही लौं सब कर्म हैं, जब लगि हरि उर नाहिं"

श्याम-दर्शन के पश्चात् तो सभी कुछ श्याममय हो जाता है, किसी भी वस्तु का कोई अलग अस्तित्व नहीं रह पाता। वे कर्म को बंधन मानती हैं, एक कर्म दूसरे कर्म को जन्म देता है, इस प्रकार कार्य-कारण की शृंखला सदैव चला ही करती है और जीव उससे मुक्त नहीं हो पाता। कामायनी में कविवर "प्रसाद" जी के कुछ ऐसे ही विचार हैं—

"कर्म का भोग, भोग का कर्म
यही जड़-चेतन का आनंद"।

उद्धवजी योगासन आदि की महिमा का वर्णन करते नहीं थकते तथा ब्रह्म को निर्गुण ही निर्धारित करते हैं; किन्तु गोपियाँ इस सगुण सृष्टि के कारण ब्रह्म को निर्गुण कैसे मान सकती हैं। "यदि कर्ता गुणवान् नहीं है, तो उसकी कृति में गुण कहाँ से आ सकते हैं' अपने इस तर्क की पुष्टि के हेतु वे कहती हैं कि जो बीज बोया जायगा उसी के अनुरूप वृक्ष भी लगेगा। यहीं पर गोपियाँ वल्लभमतानुसार विद्या और अविद्या माया का भी परिचय देती हैं, यह जगत् सत्य है किन्तु अविद्या माया के संसर्ग के कारण असत्य भासित होता है—

"जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहाँ ते।
बीज बिना तरु जमें मोहिं तुम कहो कहाँ ते॥
वा गुन की परछाँह री माया दर्पन बीच।
गुन ते गुन न्यारे भये, अमल वारि मिलि कीच॥"

उद्धवजी कर्म को बड़ा महत्त्व देते हैं, किन्तु उसके फल की इच्छा त्यागकर तथा सब कुछ ब्रह्मार्पण या कृष्णार्पण करके ही कर्म करना चाहिये। इस प्रकार कर्म का कारण नष्ट हो जाता है और फिर वह नये कार्यों को जन्म नहीं दे पाता। प्रत्यक्ष कृष्ण-द्रष्टा गोपियाँ "निर्गुन भये अतीत के सगुन सकल जग माहिं" सिद्धान्त को मानती हैं। उद्धव की बे सिर पैर की बातें सुनकर गोपियाँ उन्हें नास्तिक समझती हैं तथा उन्हें उद्धव का ज्ञान थोथा प्रतीत होता है। तत्त्व ग्रहण करने में असमर्थ ऊधो "प्रगट भानु को छाँड़ि गहै परछाहीं धूपै"। "सूरदास" तथा नन्ददास" दोनों ही अपनी गोपियों द्वारा निर्गुण ब्रह्म की दुरूहता तथा गहनता का प्रतिपादन करते हैं, सूरदासजी ने तो सगुण लीला गायन के कारण को पहले ही प्रकट कर दिया है—

"अविगत गति कछु कहत न आवै

× × ×

रूप रेख गुन जाति जुगुति बिन निरालम्ब मन चकृत धावै
सब विधि सगुन विचारै ताते, 'सूर' सगुन लीला पद गावै"

इसी प्रकार नन्ददासजी की गोपियाँ भी ब्रह्म को केवल दिव्यदृष्टि द्वारा दर्शनीय मानती हैं। सभी प्राणियों को विवेकचक्षु उपलब्ध नहीं, वे कर्म के कूप में टक्करें मारते हुए सत्य से कोसों दूर हैं; ऐसे व्यक्तियों की अपेक्षा तो सगुणोपासक ही भले हैं—

"जिनकी वै आँखैं नहीं देखैं कब वह रूप
तिन्हें साँच क्यों ऊपजै परे कर्म के कूप"

आधुनिक युग के भ्रमरगीतकारों में 'रत्नाकर' जी के भ्रमरगीत में ही दार्शनिक तत्त्व प्राप्त होता है। विचार यद्यपि प्राचीन और चिरप्रसिद्ध हैं किन्तु उनके संगुम्फन का ढंग सर्वथा मौलिक और स्तुत्य है। उद्धवशतक के उद्धव तो पहले कृष्ण को ही ज्ञानोपदेश देते हैं, वे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'एकोऽहम् द्वितीयो नास्ति' तथा 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' आदिक सिद्धान्त कृष्ण के सम्मुख रखते हैं। तत्त्वज्ञान के साथ ही साथ ब्रह्मज्ञान की भी महत्ता उद्धवजी आवश्यक समझते हैं—

"पाँचौ तत्व माहिं एक सत्व ही की सत्ता सत्य
याही तत्व-ज्ञान कौ महत्व श्रुति गायौ है"

तथा इस संसार को वे स्वप्नवत् मिथ्या मानते हैं—

"जागत औ पागत अनेक परपंचनि मैं,
जैसे सपने मैं अपने कौं लहिबौ करैं"

इस प्रकार कृष्ण को अपने विचारों से अवगत कराकर उद्धव कृष्ण के आग्रहानुसार गोकुल जाते हैं, किन्तु मार्ग में ही उनका नीरस, शुष्क ज्ञानी हृदय सरस हो चलता है। गोपियों के समक्ष पहुँचते-पहुँचते उनका समस्त ज्ञान गर्व विगलित हो जाता है—

"दीन दसा देखि ब्रजबालनि की ऊधव कौ,
गरिगौ गुमान ज्ञान गौरव गुठाने से।"

किन्तु फिर भी किसी प्रकार उद्धव अपने ज्ञानार्क का दिव्यालोक प्रसारित करना चाहते हैं, वे गोपियों को कृष्ण संयोग प्राप्त करने का साधन बताते हैं जिसमें योग का प्रयोग सदैव करना चाहिये। योग के द्वारा अन्तर्दृष्टि करने और हृत्कमल पर जगनेवाली ब्रह्मज्योति में ध्यान लगाने से भगवान् कृष्ण का संयोग प्राप्त होता है। जड़ और चेतन के विलास का विकास होकर अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है। गोपियाँ कृष्ण को मोहाभिरत होने के कारण ही अपने से विलग मान रही हैं अन्यथा कृष्ण तो सर्वत्र सब में ही निवास करते हैं—

"मोहबस जोहन बिछोह जिय जाकौ छोहि,
सो तो सब अंतर निरन्तर बस्यो रहै।

उद्धव ब्रह्म की सर्वव्यापकता "कान्ह सब ही मैं, कान्ह ही मैं सब कोई है" के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए काँच के टुकड़े में पड़े प्रतिबिम्ब का उदाहरण देते हैं। यह सब माया का ही प्रपंच है जिसके कारण सच्चिदानन्द का वह सत्य सत्त्व (जो पञ्चतत्त्वनिर्मित इस संसार में एक सा है) अपने सत्य रूप में नहीं प्रकट होता। संसार का सभी वस्तुओं में उसी ब्रह्म का रूप

है किन्तु उस रूप का दर्शन-विवेक चक्षुओं ही से होता है, इसीलिए प्राणी को भ्रम का निवारण करना अत्यन्तावश्यक है। सारे संसार के अनेकत्व में उसी ब्रह्म के एकत्व का दर्शन होना चाहिये, ब्रह्म में ही यह सारा नामरूपात्मक विश्व समाविष्ट है—

"माया के प्रपंच ही सौं भासत प्रभेद सबै,
काँच-फलकीन ज्यों अनेक एक सोई है।"*

उद्धव योग की कष्टसाध्य साधना का उपदेश देते हैं। कृष्ण में भी वही ब्रह्म है, गोपियों में भी वही है, सारे संसार तथा अणु-अणु में ब्रह्म व्याप्त है। यदि गोपियाँ उसी सर्वात्मा से अविचल मिलाप चाहती हैं तो उन्हें योगाभ्यास के द्वारा अपनी आत्मा को परमात्मा में लीन कर देना चाहिये तथा मन को दीन न करके, शरीर को ही योग की कठिन साधना द्वारा क्षीण करना चाहिये।

उद्धव के मुख से ऐसे वचन सुनकर गोपियाँ विकल हो जाती हैं, उनकी उस व्यथित दशा का वर्णन 'रत्नाकर' जी ने बड़ा ही भावपूर्ण तथा मार्मिक किया है।

अपने साधारण से सरल जीवन में गोपियों ने ऐसे सिद्धान्तों का परिचय कहीं भी नहीं पाया था। न तो वे पढ़ी-लिखी ही थीं कि ग्रन्थाध्ययन कर सकतीं और न उन्हें ऐसे ब्रह्मज्ञानी का सहवास ही कभी प्राप्त हुआ था। उनका जीवन रसमय तथा प्रेममय था, वे उद्धव की गूढ़ बातें समझ ही नहीं पातीं—

"ह्याँ तो विषमज्वर-वियोग की चढ़ाई यह,
पाती कौन रोग की पठावत दवाई है"*

गोपियों का सीधा सा केवल एक ही प्रश्न था कि कृष्ण कब आ रहे हैं। कवि ने यहाँ पर एक बड़े मनोवैज्ञानिक सत्य का उद्घाटन किया है, यदि प्रिय अपने पूर्व स्थान के कार्य-कलापों का स्मरण करता है तथा उसका स्वभाव पूर्ववत् ही है तो वह अवश्य ही अपने संसर्ग में आई हुई वस्तुओं को

---

* "उद्धव-शतक" जगन्नाथदास 'रत्नाकर'।

भी स्मरण करता होगा। यह विचार प्रेमियों की बड़ी आशा है तभी तो वे सहज ही पूछ बैठती हैं—

"जाइ जमुना तट पै, कोऊ बट छाँहिं माहिं,
पाँसुरी उमाहिं कबौं बाँसुरी बजावैं हैं।"*

उद्धव की बार-बार ब्रह्म ही का गुणगान करने की वृत्ति का हास्य और व्यंग्य मिश्रित उद्‌घाटन गोपियाँ करती हैं—

"कान्ह दूत कैधौं ब्रह्म दूत ह्वै पधारे आप"*

ऊधव ने जलधि और बूँद का सहारा लेकर ब्रह्म और जीव के एकत्व का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था जिसके उत्तर में गोपियाँ सोचती हैं कि यदि बूँद और जलधि का जल एक हो जाय तो—

"जैहै बनि बिगरि न बारिधता बारिधि की,
बूँदता बिलैहै बूँद बिबस बिचारी की"*

गोपियाँ अनेकत्व में एकत्व तथा ब्रह्म के विभुत्व को नहीं समझ पातीं। उन्हें हठयोग-जनित शारीरिक रूपान्तर नहीं भाते। कृष्ण को प्रसन्न करने में उनके शारीरिक सौंदर्य का भी यथेष्ट हाथ था, अतः गोपियाँ उसे क्षीण नहीं करना चाहती थीं।

उद्धव ने ब्रह्म के ध्यान को त्रिकुटी में रख आंतरिक चक्षुओं से देखने का विधान बताया था। किंतु विश्वव्यापी ब्रह्म त्रिकुटी में कैसे समा सकता है, योगाभ्यास में श्वास को अन्दर ही अवरुद्ध करके गोपियाँ अपनी वियोगाग्नि अधिक नहीं बढ़ाना चाहतीं—वायु से तो अग्नि का प्रज्वलित होना ही अधिक सम्भव है—

"चिंतामनि मञ्जुल पँवारि धूरि धारनि मैं,
काँच मन-मुकुर सुधारि धरिबौ कहौ।

---

*"उद्धव-शतक" जगन्नाथदास 'रत्नाकर'।

कहै 'रत्नाकर' वियोग आगि सारन कौं,
ऊधव हाय हमकौं बयारि भखबौ कहौ ॥
रूप, रसहीन, जाहि निपटि निरूपि चुके,
ताकौ रूप ध्याइबौ औ रस चखिबौ कहौ ।
एते बड़े विश्व माहिं हेरैं हूँ न पैहै जाहि,
ताहि त्रिकुटी में नैन मूँदि लखिबौ कहौ ॥"*

गोपियाँ प्रत्यक्ष के हेतु प्रमाण अनुमान की आवश्यकता नहीं समझतीं—

"देखति सो मानति हैं
सूधो न्याव जानति हैं"*

इसी कारण "लखि ब्रज-भूप रूप अलख अरूप ब्रह्म,
हम न कहैंगी तुम लाख कहिबौ करौ"*

निराकार ब्रह्म को गोपियों ने अनंग कहकर उपहासित किया है। वे विरह-विदग्धा हैं, उनकी यह दशा अनंग के कारण ही हुई है और यदि ब्रह्म भी रूपगुण रहित है तो उसकी आराधना वे नहीं करना चाहतीं—

"एक ही अनंग साधि, साध सब पूरीं अब,
और अंगरहित अराधि करिहैं कहा ?"*

आज के भौतिक जगत् में प्रत्येक वस्तु का मूल्यांकन उपयोगिता के आधार पर होता है, 'रत्नाकर' की गोपियाँ भी ऐसा ही समझती हैं। यदि ब्रह्म निराकार है तो वह किस प्रकार उनके काम आ सकता है, उन्हें तो अपना सहायक, रक्षक तथा सहयोगी ब्रह्म चाहिये—

"कर बिनु कैसे गाय दुहिहैं हमारी वह
पद बिनु कैसे नाचि थिरकि रिझाइहै।
× × × ×
रावरो अनूप कोऊ अलख अरूप ब्रह्म,
ऊधो कहो कौन धौं हमारे काम आइहै॥"*

---

*"उद्धव-शतक" जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

भक्ति-सिद्धान्त के अनुसार भक्त अपने इष्टदेव के साहचर्य को ही अभीप्सित मानता है। मुक्ति उसके लिये विशेष महत्त्व नहीं रखती, गोपियों की भी यही भावना है—

"सरग न चाहैं, अपबरग न चाहैं सुनौ,
मुक्ति दोऊ सौं विरक्ति उर आनैं हम" *

वे योगी से वियोगी को किसी भाँति कम नहीं मानतीं। उद्धव सांसारिक ज्ञान से परे हैं, उन्हें सिद्धान्त-रूप में ज्ञानयोग का आभासमात्र है, तभी तो वे इस सम्पूर्ण जड़-चेतन सृष्टि को स्वप्नवत् मानते हैं। ब्रह्म के सर्वव्यापक और सर्वज्ञ होते हुए भी जगत् को स्वप्नवत् असत्य मानना उपहासास्पद है। जिस प्रकार स्वप्नावस्था में व्यक्ति अपने को सचेत और सज्ञान समझता है, उसी प्रकार उद्धव भी गोपियों के मत से, अपने को ज्ञानवान् समझते हैं, किन्तु वास्तव में वे अज्ञानता की तन्द्रा में वास्तविक जगत् को स्वप्नवत् मानते हैं। चेतन-जगत् को स्वप्न तथा मिथ्या मानना ही निद्रावस्था प्रमाणित करने के लिये यथेष्ट है, और ऐसी अवस्था में जो कुछ भी कहा जाय वह प्रलाप ही होगा——

"जग सपनौ सौ सब परत दिखाई तुम्हैं,
तातें तुम ऊधो हमैं सोवत लखात हौ।
कहैं 'रत्नाकर' सुनै को, बात सोवत की,
जोई मुँह आवत सोई बिबस बयात हौ॥
सोवत में जागत लखत अपनैं कौं जिमि,
त्यों ही तुम आप ही सुज्ञानी अमुझात हौ।
जोग जोग कबहूँ न जानै कहा जोहि जकौ,
ब्रह्म ब्रह्म कबहूँ बहकि बररात हौ॥"*

उद्धव के विचारों का उपहास एक स्थान पर गोपियों के द्वारा और भी हुआ है "सूधो-बाद छाँड़ि बकबादहिं बढ़ावै कौन"। इसी जन्म में नहीं, अपने

* "उद्धव-शतक" जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

अन्य जन्मों में भी गोपियाँ कृष्ण-मिलन की आशा रखती हैं और इसी आशा की पूर्ति के हेतु अपने अहंभाव को नष्ट नहीं करना चाहतीं। जिस हृदय में कृष्ण का निवास है, ब्रह्म के लिये वहीं पर अवशिष्ट स्थान कहाँ ? उनकी सारी श्रद्धा, सारा स्नेह और भक्ति कृष्ण को अर्पित हो चुकी है।

उद्धव आये तो थे गोपियों को ज्ञानोपदेश देने, परन्तु ब्रज के प्राकृतिक सौन्दर्य और गोपियों की भावमयी स्थिति को देखकर उनका ज्ञानगर्व नष्ट हो गया, निदान वे अपने विचारों का सम्यक् प्रत्यक्षीकरण न कर सके। उनका ज्ञान गोपियों की अथाह भक्ति में लुप्त हो गया, इस प्रकार ज्ञान और योग के ऊपर भक्ति की पूर्ण विजय हुई। भक्तों ने भक्ति को सदैव श्रेष्ठ माना है—

"गुरु बिन होइ कि ज्ञान, ज्ञान कि होइ बिराग बिन
गावत बेद पुरान, सो कि होइ हरिभक्ति बिन"

किन्तु तात्त्विक दृष्टि से ज्ञानी और भक्त में विशेष अंतर नहीं—

"ज्ञानिहिं भक्तहिं नहिं कछु भेदा,
उभय हरहिं भव-सम्भव खेदा"

योग और ज्ञान की अपेक्षा गोपियों के प्रेम को महत्ता देना भी मनोवैज्ञानिक सत्य है। मानसिक भावनाओं की अनुभूति में मनोवृत्तियों और बोधवृत्तियों दोनों का सामञ्जस्य रहता है। बोधवृत्तियों में मानसिक भावनाओं की अनुभूतिपरक व्यञ्जना आवश्यक नहीं, इसीलिये वह एकदेशीय है। योग ऐसे शुष्क साधन में सभी चित्तवृत्तियों का नितान्त निरोध हो जाता है "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः", यही कारण है कि मानसिक भावनाओं की अनुभूति से सम्भावित मनोवृत्तियाँ बोधवृत्तियों की अपेक्षा गुरुतर और गम्भीर होती हैं। इसी सिद्धान्त के आधार पर प्रेम और भक्ति की विजय ज्ञान और योग पर बताई गई है।

भक्तियोग और ज्ञानयोग

निष्कपट रूप से ईश्वरानुसन्धान ही भक्तियोग है, प्रेम इसका आदि, मध्य और अवसान है। "नारदसूत्र" "शाण्डिल्यसूत्र" और "नारदपाञ्चरात्र–प्रभृति" शास्त्रों ने स्नेह को ही भक्ति शब्दार्थ माना है। "भगवान् का परम प्रेम ही भक्ति है, जीव इसे प्राप्त करके प्राणिमात्र के प्रति घृणाशून्य हो जाता है, उसके सारे कर्म प्रेमाभिभूत होते हैं। इस प्रेम के द्वारा काम्य सांसारिक वस्तु की प्राप्ति नहीं होती, यह कर्म ज्ञान और योग से अधिक श्रेष्ठ है, क्योंकि साध्य विशेष ही उनका लक्ष्य है और भक्ति स्वयं साध्य एवं साधनरूप है।" *

शाण्डिल्यभक्ति-सूत्र में भी भक्ति को ईश्वर के प्रति परम अनुरक्ति ही बताया गया है ‡। "पाञ्चरात्र" में इसका कुछ अधिक विवेचन है। भक्ति के पूर्व ईश्वर के माहात्म्य का ज्ञान आवश्यक है*। उनकी महत्ता जान लेने के पश्चात् जो दृढ़ और सर्वाधिक स्नेह उनके चरणों में हो जाता है, वही भक्ति है। भक्त को स्नेह होने के पूर्व ही उस महान् सत्ता की महानता का ज्ञान रहता है, तत्पश्चात् वह पूर्ण रूप से अपने आराध्य के ध्यान में मग्न हो जाता है, अन्य सब वस्तुएँ विस्मृत हो जाती हैं।

"भक्ति" शब्द की व्युत्पत्ति कर देने से भी यही सिद्ध होता है। भज् - ति=भज प्रकृति और ति प्रत्यय। भज प्रकृति का अर्थ है सेवा और ति प्रत्यय के अर्थ हैं भाव; अतः भावसहित सेवा को ही भक्ति कहते हैं। इसी प्रेम और परानुरक्ति के मार्ग को गोपियों ने अपना आश्रय चुन लिया है। वे सब कुछ छोड़ सकती हैं, किन्तु कृष्ण-प्रेम नहीं त्याग सकतीं। गोपियाँ साध्यभक्ति या परा-भक्ति की अनुयायिनी हैं। प्रेम-लक्षणा भक्ति की अधिकारिणी गोपियाँ

---

* सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा, ॐ सा कर्मे परम-प्रेम-रूपा (१ अनुवाक्—२ सूत्र)
ॐ सा अभयमाना निरोधरूपत्वात् (२ अनुवाक्—१ सूत्र)
ॐ सा तु कर्मज्ञान योगेभ्योह्यप्यधिकतरा (४ अनुवाक्—२५ सूत्र)
ॐ स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः (४ अनुवाक्—३० सूत्र, नारदभक्तिसूत्र)

‡ "सा परानुरक्तिरीश्वरे" शाण्डिल्यभक्तिसूत्र।

* "माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्ननान्यथा" ॥

सदा कृष्ण-प्रेम में मग्न रहती हैं। उन्हें मुक्तिलाभ या सांसारिक ऐश्वर्य किसी की भी चाह नहीं। भगवान् ने स्वयं कहा है—"जिसने मुझमें मन अर्पण कर दिया है वह मेरा अनन्य भक्त मुझे छोड़कर ब्रह्माजी का पद, इन्द्र का आसन, चक्रवर्ती-साम्राज्य, लोकाधिपत्य योगजनित सिद्धियाँ ही नहीं किन्तु मोक्षपद की भी इच्छा नहीं करता है, अतः पराभक्ति का आनन्द अनिर्वचनीय है। *

गोपियाँ भी इसी प्रकार सांसारिक सुखसाधनों की इच्छा से परे हैं, वे उद्धव की ज्ञान और मुक्ति-चर्चा का खंडन करती हैं। कृष्णरूपी प्रेम-निधि पाकर उन्हें अब संसार में कुछ भी अलभ्य नहीं है, मुक्ति तो उनकी चेरी ही है।

भक्तिरस पाँच प्रकार के हैं और इन्हीं के आधार पर भक्ति भी पाँच प्रकार की मानी गई है—'सख्य', 'शान्त', 'दास्य', 'सेव्य' और 'माधुर्य' भक्ति। स्नेह का उद्रेक प्रत्येक रस तथा भक्ति में होता है, किन्तु रस की सर्वोच्च परिणति मधुर रस में ही होती है। माधुर्य भक्ति इसके विकास की चरमावस्था है। चरमावस्था इसे इसी कारण कहा गया है कि सब प्रकार की मर्यादा और संकोच इसमें दूर हो जाते हैं। शृंगाररस की इस सर्वोच्च स्थिति का, जिसमें सभी रसों का समावेश हो जाता है, एक बौद्धिक और तात्त्विक आधार भी है 'प्लेटो' ने अपने सिम्पोजियम (symposium) नामक ग्रन्थ में काम को मानव-आदर्श के प्रति मनुष्य की वह सहज प्रवृत्ति बताया है जिसकी चरितार्थता प्रेम से अथवा मान, ज्ञान या अधिकार की प्राप्ति के लिए किये जानेवाले प्रयत्न से होती है। इस बात को वैज्ञानिक ढंग से इस रूप में कह सकते हैं कि चाहे वह इन्द्रियजन्य हो अथवा अतीन्द्रिय, शृंगाररस का आधार काम ही होता है। वैष्णव भक्तों ने भक्तिभाव का ऐसा क्रम बाँधा है जिससे वह भाव अधिकाधिक प्रगाढ़ होकर उच्च से उच्चतर स्तर प्राप्त कर अन्त में उच्चतम भाव को प्राप्त

---

* "न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं,
न सारभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा,
मय्यर्पितात्मेच्छतिमद्विनान्यत्॥
(श्रीमद्भागवत ११।१४।१४)

होता है, जिसे "महाभाव" कहते हैं। इसी महाभावमय प्रेम की स्थिति में गोपियाँ सदैव रहती हैं।

उद्धव उन्हें मुक्त न होने का भय प्रदर्शित करते हैं, अज्ञानी बताते हैं किन्तु वे अपनी लगन छोड़ने को तत्पर नहीं हैं। उनका प्रेम चातक की लगन और प्रेम के समान सर्वश्रेष्ठ है—

"उपल बरषि, तरजत गरजि, डारत कुलिश कठोर।
चितवति चातक जलद तजि, कबहुँ आन की ओर॥" (तुलसी)

अपने प्रेम के प्रति-दान में गोपियाँ यह नहीं चाहतीं कि कृष्ण भी उनसे प्रेम करें। उन्हें ज्ञात है कि कृष्ण वहाँ कूबड़ी के वशीभूत हैं, किन्तु फिर भी वे कृष्ण को नहीं भुला सकतीं और न कृष्ण पर क्रोध ही है। कृष्ण से प्रेम रखना उनका धर्म ही है, "जिस प्रकार नर्तकी सिर पर घड़ा रखकर नाना प्रकार के तालों से अंग लचकाती हुई नृत्य करती है लेकिन तौ भी उसका ध्यान सिर पर रक्खे हुए घड़े पर ही रहता है, उसी प्रकार सच्चा भक्त अपने कर्मों में उलझा रहने पर भी हमेशा प्रभु-चरणों में निमग्न रहता है।" *

भक्ति रस की अनुभूति अलौकिक है, वैसे भी काव्य-रस को "ब्रह्मानन्द-सहोदर:" कहा गया है। भरत मुनि ने नाट्य-शास्त्र में काव्य-रसों की संख्या नौ मानी हैं— शृङ्गार, करुणा, शान्त, रौद्र, वीर, अद्‌भुत, हास्य, भयानक, तथा वीभत्स। भक्ति-रस इन सभी रसों से अपूर्व है, वह भक्तों के हृदय में कृष्ण के रूप तथा लीला-गुण से संबंधित रागानुगाभक्ति के उद्रेक से उत्पन्न होता है। भक्तिरस के विभाव-अनुभाव भी भिन्न होते हैं। रस-रूप ब्रह्म के विविध सम्बन्धों द्वारा अनुभूत भक्ति-रस भक्तों के हृदय का अपूर्व रस है। 'मम्मटादि' अलंकारिकों ने भक्ति-अनुभति को भाव कोटि तक ही रक्खा है, उसे रस की संज्ञा नहीं दी है, किन्तु वैष्णव भक्त उसे रस की संज्ञा देते हैं। भक्ति-काव्य तो रस से ओतप्रोत है ही।

---

* भक्तियोग—ले० अश्विनीकुमारदत्त प्रथमावृत्ति पृष्ठ २५।

वल्लभाचार्य तथा अन्य कृष्ण-भक्त कवियों ने नवधा-भक्ति * को प्रेम-भक्ति का साधन ही कहा है। वल्लभाचार्य ने नवधा-भक्ति के अतिरिक्त दसवी 'प्रेम-लक्षणा' भक्ति भी मानी है जो सर्वप्रधान है क्योंकि इसके द्वारा भगवान् के स्वरूपानन्द की प्राप्ति होती है। उपर्युक्त साधन वैकल्पिक नहीं, अनिवार्य हैं। उन्होंने दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण भावों के साथ वात्सल्य तथा मधुर भावों को और जोड़ दिया है। अष्टछाप के भक्तों ने इन्हीं साधनों का आश्रय लेकर अनन्य भक्ति की प्राप्ति सुलभ बताई है।

भ्रमरगीतों के अन्तर्गत आनेवाली भक्ति में श्रवण, कीर्तन, स्मरण, आत्म-निवेदन आदि भावों का पूर्ण परिचय मिलता है; अन्य भावों के उदाहरण भी गोपी-प्रेम में सुलभ ही हैं। गोपियाँ निरन्तर कृष्ण-ध्यान में लीन रहती हैं। कृष्ण के रूप, गुण का स्मरण ही उनका आधार है, आपस में कृष्ण-चर्चा का कीर्तन तथा श्रवण ही उन्हें सान्त्वना प्रदान करता है। अपनी प्रीति तथा विरह-दुख का निवेदन ही उनका जीवन है।

पञ्चधा-भक्तियों में से गोपी-प्रेम माधुर्य-भक्ति के अन्तर्गत आता है। शृंगार-भाव की भाँति मधुर-भाव भी दो प्रकार का होता है—संयोगात्मक और वियोगात्मक। भ्रमरगीतों के अन्तर्गत वियोगात्मक मधुर-भाव है। नवधा-भक्ति के अन्तर्गत जो अंतिम आत्म-निवेदन का भाव है वह "कान्ताभाव" या "माधुर्य-भक्ति" में ही पूर्णता प्राप्त करता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य का सर्वाधिक व्यापक भाव रति-प्रेम है। प्रीति के जितने सम्बन्ध हैं उनमें स्त्री-पुरुष के प्रेम में सर्वाधिक आकर्षण है। इसके अन्तर्गत "परकीय प्रेम" में अधिक तीव्रता तथा गहनता होती है। 'चैतन्य महाप्रभु' भी परकीय प्रेम को ही अधिक महत्त्व देते हैं—

परकीया भावे अति रसेर उल्लास।
व्रज बिना इहार अन्यत्र नाहि बास॥"

(श्रीचैतन्यचरितामृत)

---

* श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥ (भागवत)

लोकानुभूत स्त्री-पुरुष के प्रेम-सम्बन्ध की व्यापकता देखकर ज्ञानी साधकों ने आध्यात्मिक प्रेमानुभूतियों को भी लौकिक अन्योक्तियों द्वारा प्रकट किया है।

भक्तों ने कृष्ण-प्रेम की विरह-अवस्था की अनुभूति को बहुत महत्त्वशाली माना है। प्रिय-मिलन, कृष्ण-मिलन या ईश्वर-मिलन की व्याकुलता का भक्ति-क्षेत्र में अधिक महत्त्व है। प्रेम की तीव्रता, प्रिय के प्रति विशेष आकर्षण, उसके अभाव में सदैव उसका ध्यान और मिलन लालसा की पुष्टि इस विरह-भाव की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं की अनुभूति से होती है। लौकिक-प्रेम से कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी व्याकुलता की मधुर भावना पतितपावनी गंगा के समान भक्त की हृदयभूमि में उसके भावों और कर्मों को पवित्र करती हुई विराट् प्रेमसागर की ओर बहा करती है। विरह-व्याकुलता की महत्ता के विषय में यथेष्ट पद प्राप्त होते हैं— "विरह दुख जहाँ नहिं जामत, नहीं उपजै प्रेम"

तथा

"ऊधौ विरहो, प्रेम करै,
जो बिन पुट पट गहत न रंग को रंग न रसै परै।
जो धर देह बीज अंकुर, गिरि तौ सत फरनि फरै,
ज्यों घट अनल दहत तन अपनों पुनि पय अमी भरै।
ज्यों रणशूर सहत शर सम्मुख तौ रबि रथहि ररै,
सूर गोपाल प्रेमपथ चलि करि क्यों दुख सुखन डरै।"

विरह-तन्मयता में गोपियों ने अपनी समस्त भावनाओं को कृष्ण में ही केन्द्रित कर दिया है। श्रीवल्लभाचार्यजी के अनुसार भी "भगवान् सर्वदा सर्व भाव से भजनीय हैं"*

श्रीकृष्ण स्वयं सर्वभावों का समर्पण श्रेष्ठ मानते हैं, "कि हे अर्जुन ! मुझे जो जिस भाव से भजते हैं, मैं उन्हें उसी भाव से मिलता हूँ अतः बुद्धिमान्

* सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः।

चतुःश्लोकी, षोडशग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक नं० १।

मनुष्य सब प्रकार से मेरे अनुवर्ती रहते हैं"। "गोपियाँ अपने शरीरों की चिन्ता भी केवल कृष्ण को प्रसन्न करने के हेतु ही करती हैं"।*

गोपी-भाव के पाँच प्रधान अंग हैं—(१) श्रीभगवान् के स्वरूप का पूर्ण-ज्ञान (२) श्रीभगवान् में प्रियतम भाव (३) श्रीभगवान् में सर्वस्व अर्पण (४) निज सुख-इच्छा का पूर्ण त्याग (५) भगवत्प्रीत्यर्थ जीवनधारण।

सम्वित्, सन्धिनी और ह्लादिनी भगवान् की तीन स्वरूपा शक्तियाँ हैं। भगवान् का मधुर अवतार ह्लादिनी नामक आनन्दमयी प्रेम-शक्ति के निमित्त होता है, ह्लादिनी-शक्ति स्वयं श्रीराधिकाजी हैं। समस्त गोपीजन उन ह्लादिनी शक्ति की विभिन्न प्रतिमूर्तियाँ हैं। उनका जीवन स्वाभाविक ही भगवदर्पित है, उनकी प्रत्येक क्रिया स्वाभाविक ही भगवत्सेवारूप होती है। "उनके चित्त भगवान् के चित्त हो गये थे, वे उन्हीं की चर्चा करती थीं, उन्हीं के लिए उनकी सारी चेष्टायें होती थीं, इस प्रकार वे भगवन्मयी हो गई थीं और भगवान् का गुणगान करते हुए उन्हें अपने घरों की भी सुधि नहीं रहती थी।"† कृष्ण-ध्यान की अत्यन्त ऊँची भाव-स्थिति पर गोपियाँ पहुँच गई थीं। शास्त्रों में आठ अत्यन्त कड़े बन्धन कहे गये हैं जिनमें बँधा हुआ मनुष्य आनन्दमय भगवान् की ओर अग्रसर नहीं हो पाता। घृणा, शंका, भय, लाज, जुगुप्सा, कुल, शील और मान ये आठ जीव के पाश हैं×। गोपियों ने इन आठों बन्धनों को तोड़कर एक-एक निमेष कृष्णार्पण कर दिया। मधुर भाव की सर्वव्यापकता में संदेह नहीं। मधुरभावापन्न पत्नी को मंत्री, दासी, माता, रम्भा तथा सखी आदि भावों से पूर्ण माना गया है। अतः मधुर भाव में शान्त, दास्य, सख्य तथा वात्सल्य सभी भावों का समावेश मिलता है। पति-पत्नी के मधुर भाव की अपेक्षा, भाव की दृष्टि से 'परकीया' का भाव अध्यात्मक्षेत्र में अधिक

---

* "निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते।
ताभ्यः परं न मे पार्थ निगूढप्रेमभाजनम्॥" (श्रीमद्भागवत)

† "तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः॥"

× "घृणा शंका भयं लज्जा जुगुप्सा चेति पञ्चमी।
कुलं शीलं च मानं च अष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः॥"

उच्च है, गोपियों का प्रेम इसी के अन्तर्गत आता है। परकीया भाव का प्रेम प्रधानता तीन कारणों से अधिक उच्च हो जाता है—(१) प्रिय का निरन्तर ध्यान (२) प्रिय-मिलन की तीव्र तथा तृप्त न होनेवाली आकांक्षा (३) प्रिय के अवगुणों का पूर्ण विस्मरण ※ । ये तीनों ही अवस्थायें विरहिणी गोपियों के कृष्णप्रेम में सुलभ हैं। गोपियों का प्रेम काम-कालिमा शून्य है। काम और प्रेम में बड़ा अन्तर है। काम विष मिला मधु है, प्रेम दिव्य स्वर्गीय सुधा। काम में इन्द्रिय-तृप्ति सुख-रूप दीखने पर भी परिणाम दुखरूप है, प्रेम सदा अतृप्त होने पर भी नित्य परम सुखरूप है, प्रेम में तन्मयता, प्रियतम सुख की नित्य प्रबल आकांक्षा है। काम खंड है, प्रेम अखंड है। काम का लक्ष्य आत्मतृप्ति है, प्रेम का ध्येय पूर्ण त्याग, चरम आत्मविस्मृति है। गौतमीय-तन्त्र में भी गोपी-प्रेम की महत्ता प्रदर्शित है—"गोपियों के प्रेम का नाम काम होने पर भी वास्तव में वह काम नहीं, किन्तु शुद्ध प्रेम है। महान् भगवद्भक्त उद्धव भी इसी 'काम' नामक प्रेम की अभिलाषा करते हैं"। श्रीचैतन्यचरितामृत में इस विषयासक्ति-शून्य कृष्णगतप्राणा गोपियों के सम्बन्ध में कहा है—"अपने तन, मन, धन, रूप, यौवन, लोक-परलोक, सबको कृष्ण की सुख-सामग्री समझकर कृष्ण-सुख के लिए शुद्ध अनुराग करना ही पवित्र गोपी भाव है।" × गोपी-प्रेम में काम-वासना-तृप्ति या रमणाभिलाषा का तनिक भी आभास नहीं है, प्रत्युत गोपी-कृष्णलीला का उद्देश्य ही काम विजय है। बालक जिस प्रकार दर्पण में अपने प्रतिबिम्ब से स्वच्छन्द क्रीड़ा करता है उसी प्रकार कृष्ण ने योगमाया के द्वारा अपनी छाया-स्वरूप गोपियों के साथ क्रीड़ा की।

गोपी-प्रेम में भक्ति का प्रत्येक रूप उपलब्ध है। 'नारदभक्तिसूत्र' में प्रेमभक्ति के ग्यारह प्रकार दिये हुए हैं। इनमें से प्रत्येक गोपी-विरह या भँवरगीत में उपलब्ध हैं। अयोध्यासिंह उपाध्याय ने भक्ति के इन प्रकारों में

※ "गोपी-प्रेम" श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार ।

× "निजेन्द्रिय-सुख हेतु कामेर तात्पर्य
कृष्ण-सुख तात्पर्य गोपी-भाव वर्य"।

× × ×

"कृष्ण बिना और सब करि परित्याग,
कृष्ण-सुख-हेतु करे शुद्ध अनुराग"।

भी नवीनता का समावेश किया है। 'हरिऔध' जी की राधा के लिये आर्तों का करुण-क्रन्दन सुनना ही श्रवण-भक्ति है, विद्वानों और लोकोपकारों के प्रति विनय, वंदन-भक्ति है ※। उनकी राधा ने संसार की सेवा करना ही प्रभु-भक्ति मान लिया है। गुणमाहात्म्यासक्ति के उदाहरण भँवरगीत में प्रचुर तथा सर्वत्र हैं। गोपियों के वल्लभ श्रीकृष्ण अनुपम रूप तथा गुणों के आगार हैं। गोपियाँ उनके रूप तथा गुण पर मोहित हैं अतः गुणमाहात्म्यासक्ति और रूपासक्ति तो उनके प्रेम की प्रथम ही सीढ़ी है। पूजासक्ति, दास्यासक्ति और सख्यासक्ति का रूप भ्रमरगीत में गौण है। स्मरणासक्ति गोपियों का अवलम्ब है, वे स्मृति का सम्बल लिये हुए ही अपने विरह-दिवस व्यतीत करती हैं। यशोदा विरह तथा मातृ-हृदया गोपिकाओं का कृष्ण-विरह वात्सल्यासक्ति के अन्तर्गत आता है। विरह दुख निवेदन तथा प्रियतम रूप में कृष्ण का ध्यान निवेदनासक्ति और कान्तासक्ति के अन्तर्गत है। विरह की अवस्था में जब गोपियाँ कृष्ण बनकर उन्हीं के से व्यापार करने लगती हैं तथा राधा का कृष्ण रटते-रटते कृष्णमय हो जाना तन्मयतासक्ति के अन्तर्गत आता है। सम्पूर्ण भ्रमरगीत परम विरहासक्ति से ओतप्रोत है।

गोपी-प्रेम की महत्ता उद्धव जैसे ज्ञानी भी मान गये। सूरदास ऐसे विरक्त भक्त ने भी गोपी भाव की महिमा गायी है। चतुर्भुजदासजी ने सूरदासजी के महाप्रयाण के समय पूछा था कि "सों कौन प्रकार सों पुष्टि मारग के रस को अनुभव करिये"। सूरदासजी ने एक पद गाकर स्पष्ट कर दिया कि गोपीजनों के भाव से भावक भगवान् कृष्ण को भजने से 'पुष्टिमार्ग' के रस का अनुभव होता है। इस मार्ग में वेद-विधि (मर्यादा) का नियम नहीं है, केवल एक प्रेम की ही पहचान है—

※ "जी से सारा कथन सुनना आर्त्त-उत्पीड़ितों का।
रोगी प्राणी व्यथित जन का लोक-उन्नायकों का।
सच्छास्त्रों का श्रवण सुनना वाक्य सत्संगियों का।
मानी जाती श्रवण-अभिधा-भक्ति है सज्जनों में॥

× × ×

आत्मोत्सर्गी बिबुध जन के देव सद्विग्रहों के।
आगे होना नमित प्रभु की भक्ति है वन्दनाख्या"

(प्रिय-प्रवास)

"भजि सखि, भाव भावक देव
कोटि साधन करो कोऊ तऊ न माने सेव।

× × ×

वेद विधि को नेत्र नाहीं न प्रीति की पहचान
ब्रजबधू बस किये मोहन सूर चतुर सुजान"

गोपी-प्रेम की सर्वश्रेष्ठता सर्वमान्य है।

भ्रमर-गीतों में सामाजिक पक्ष

कविता समाज के भावों, विचारों का वास्तविक प्रतिबिम्ब है। कवि जहाँ समाज की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक अवस्थाओं का चित्रण करता है और उनके उन्नयन की चिंता करता है, वहाँ वह उसकी सांस्कृतिक उन्नति की भी अवहेलना नहीं कर सकता। भ्रमर-गीतों में विवाद का जो रूप हमें मिलता है वह उस समय की सांस्कृतिक तथा दार्शनिक भाव-धारा का चित्र है। अपभ्रंश काल में गुह्य और आन्तरिक साधना का जो प्रचार सिद्ध और नाथ-संप्रदाय ने किया था, उसी का प्रतिबिम्ब हमें कबीर आदि निर्गुण-पंथियों में प्राप्त होता है। उनकी रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई सम्बन्ध नहीं, किन्तु उस साम्प्रदायिक प्रवृत्ति का परिचय अवश्य मिल जाता है जिसने परवर्ती सभी कवियों की रचनाओं में इस विवाद का समावेश कर दिया है।

बज्रयानी सिद्ध तथा नागपंथी सिद्धों ने बाह्य पूजा, जातिपाँति, तीर्थाटन इत्यादि के प्रति उपेक्षा-बुद्धि का प्रचार किया, रहस्यदर्शी बनकर शास्त्रज्ञ विद्वानों का तिरस्कार करने और मनमाने रूपकों के द्वारा अटपटी बानी में पहेलियाँ बुझाने का रास्ता दिखाया तथा घट के भीतर चक्र-नाड़ियाँ, शून्य देश आदि मानकर साधना करने का प्रचार किया। इनकी इसी परम्परा में कबीर आदि निर्गुणपन्थी आते हैं। सामान्य जनता के हृदय से धर्म दूर हटता जा रहा था। इन सिद्धों और पन्थियों ने साधारण जनता की भावनाओं का परिष्कार नहीं किया। उन्होंने कर्म की अवज्ञा की, प्रत्यक्ष जगत् को छोड़ वे अंतरिक्ष की बातें करने लगे। जनता की दृष्टि को आत्मकल्याण और लोक-कल्याण विधायक सच्चे कर्मों की ओर ले जाने की अपेक्षा वे उसे कर्म-मार्ग से दूर घसीट ले गये। अशिक्षित और अर्धशिक्षित जनता इन धर्मोपदेशों से कोई लाभ न उठा सकी, प्रत्युत लोग अनेक प्रकार के मन्त्रतन्त्रादि उपचारों में जा उलझे। जनता की इस अवस्था को लक्षित करके गोस्वामी तुलसीदासजी ने एक स्थल पर कहा है "गोरख जगायो जोग, भगति भगायो भोग"।

तत्कालीन राजसत्ता मुगलों के हाथ में थी, भारतीय जनता मुसलमानी एकेश्वरवाद से अपरिचित नहीं थी। शासक तथा शासित वर्ग में नैकट्य लाने के लिये लोग मूर्ति-पूजा का विरोध करने लगे थे। सन्तों ने जाति-भेद के बड़े रोड़े को दूर कर दिया, किन्तु निर्गुणपंथियों से सगुणोपासकों का बड़ा भेद था। सगुणोपासकों ने खण्डन-पद्धति को नहीं अपनाया, मिष्ट-भाषण के द्वारा ही उन्होंने समाज-परिशोधन का प्रयास किया। सगुण तथा साकार की उपासना के गम्भीर तत्त्व को लोग न समझकर केवल शाब्दिक इन्द्रजाल में फँसे थे, उनकी इसी प्रवृत्ति की ओर तुलसीदासजी ने भी लक्ष्य किया है— "निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन न जाने कोय"। उस समय के प्रत्येक कवि के काव्य में खण्डन-मण्डन की इस परम्परा का दर्शन होता है। भक्तिकालीन सामाजिक पक्ष का परिचय हमें उस समय के भ्रमरगीतों के अन्तर्गत ज्ञान और भक्ति, ज्ञान और प्रेम तथा निर्गुण-सगुण सम्बन्धी विवाद में मिलता है।

धर्म का प्रवाह कर्म, ज्ञान और भक्ति इन तीन धाराओं में प्रवाहित है। तीनों के सामञ्जस्य से धर्म अपनी पूर्ण सजीव दशा में रहता है। ज्ञान के अधिकारी सामान्य बुद्धि से अधिक विकसित तथा समुन्नत विशिष्ट व्यक्ति ही होते हैं। कर्म तथा भक्ति ही अधिकांश जनसमुदाय का सहारा होती है। कर्म इन नाथपंथियों और सिद्धों के प्रभाव से एक संकुचित घेरे में सीमित हो गया था। धर्म की भावात्मक अनुभूति या भक्ति, जिसका सूत्रपात महाभारत-काल में तथा प्रवर्तन पुराणकाल में हो चुका था, कभी अपने समुज्ज्वल रूप में और कभी विकृत हो दिखाई पड़ती थी। धर्म के इस क्षेत्र में गुह्य तथा रहस्यात्मकता के प्रवेश के कारण साधारण जनता की मनोवृत्तियों में विशृंखलता उत्पन्न हो गई थी, न तो वे ज्ञान के ही वास्तविक स्वरूप को समझ पाते थे और न भक्ति की रसात्मकता का ही अनुभव कर पाते थे। उनकी इसी अनिश्चित अवस्था से परिचित होकर तुलसीदासजी ने "अन्तरजामिहुँ तें बड़ बाहिरजामी" कहा है। इन सगुणोपासकों के कथन में एक विशेषता और भी थी, कि ये लोग साकार ब्रह्म के साथ ही निराकार ब्रह्म का भी प्रतिपादन करते थे। उन्होंने उसकी सत्यता में कभी भी सन्देह नहीं किया, किन्तु साकार ब्रह्म की महत्ता तथा उसकी उपासना की सुलभता को अवश्य प्राधान्य दिया है।

इनके विवादों में कहीं भी दूसरे पक्ष की कटु आलोचना नहीं प्राप्त होती, अवश्य ही सापेक्षिक रूप से एक की उपयोगिता पर अधिक जोर दिया गया है।

योगियों तथा सिद्धों की बानी का प्रभाव केवल निरक्षर जनता पर ही था। शास्त्रज्ञ विद्वानों तक इनकी पहुँच नहीं थी *। वे लोग अब भी ब्रह्म के तात्त्विक विवेचन तथा धर्म के गम्भीर विवादों में संलग्न थे। ब्रह्मसूत्रों, उपनिषदों तथा गीता पर भाष्यों की परम्परा विद्वन्मण्डली में प्रधान थी, जिससे परम्परागत भक्ति-मार्ग का कई रूपों में विकास हुआ। इन विद्वानों को उस समय की जनता की अनिश्चयात्मक प्रवृत्ति का ज्ञान था। वल्लभाचार्यजी ने, जो उस समय के सगुणोपासक कवियों के गुरु थे, अपने 'कृष्णाश्रय' ग्रन्थ में, उस समय की देश तथा काल की विपरीत अवस्था का वर्णन किया है। वेदमार्ग तथा मर्यादामार्ग का अनुसरण बड़ा कठिन हो रहा था। ऐसी परिस्थिति में भागवत की प्रेमलक्षणा भक्ति के प्रचार द्वारा ही लोगों के कल्याणमार्ग की ओर आकर्षित होने और साथ ही भारतीय संस्कृति के बने रहने की सम्भावना आचार्यजी को दिखलाई पड़ी। गोपियों की सगुणोपासना उस समय का एक गहन विषय है।

कालदर्शी भक्त कवि जनता के हृदय को सँभालने और लीन रखने के हेतु दबी हुई भक्ति को जगाने लगे। क्रमशः भक्ति का प्रवाह ऐसा विस्तृत और प्रगाढ़ हो गया कि हिन्दू ही क्या, मुसलमान भी प्रभावित हुए। प्रेम-स्वरूप ईश्वर को सामने लाकर भक्त कवियों ने हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को ईश्वर को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेद-भाव के दृश्यों को हटाकर पीछे कर दिया, निराश होती हुई जनता को आनन्दस्वरूप कृष्ण के व्यक्त रूप का सम्बल मिला।

गोरखनाथ की हठयोग साधना एकेश्वरवाद को लेकर चली थी, अतः मुसलमानों के लिये भी उसमें आकर्षण था। ईश्वर से मिलानेवाला योग हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के लिये एक सामान्य साधना के रूप में

*"The system of mystic culture introduced by Gorakhnath does not seem to have spread widely through the educated classes" (Saraswati-Bhawan Studies by Gopinath Kaviraj and Jha.)

सम्मुख आया जिसमें मुसलमानों के लिये अप्रिय मूर्तिपूजा तथा बहुदेवोपासना न थी, जाति-पाँति का भेद तो पहले ही नष्ट हो चुका था। बहुत से मुसलमान भी इस सम्प्रदाय में दीक्षित हुए। इन निर्गुणपंथियों ने जनता के मध्य कर्मकाण्ड की निस्सारता, जाति-पाँतिजनित भेद-भाव तथा विद्वेष की अग्राह्यता को प्रतिपादित किया।

"गंगा के नहाये कहो को नर तरिगे।
मछरी न तरी जाके पानी में घर है॥"

इन्हीं भाव-धाराओं का आधार लेकर एक 'सामान्य भक्तिमार्ग' का विकास हुआ। हृदय-पक्ष-शून्य सामान्य अन्तस्साधना का मार्ग निकालने का प्रयत्न नागपंथियों ने किया था किंतु उससे जनता की आत्मा तृप्त न हो सकी। हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिये एक सामान्य भक्तिमार्ग के विकास का आभास महाराष्ट्र के भक्त "नामदेव" दे ही चुके थे। कृष्णोपासना में तो हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही तत्पर थे। कृष्ण की मुरली और त्रिभंगी मुद्रा पर दोनों का ही मन समान रूप से मोहित था।

रहस्यात्मकता का आधार लेकर विकसित हुआ निर्गुण-पन्थ अधिक उपयोगी है, या हृदय की गम्भीर तथा विस्तृत वृत्ति पर आधारित सगुण भक्ति अधिक सुलभ है, यह प्रश्न दार्शनिक न होकर व्यावहारिक हो गया था। उस समय के धार्मिक विवादों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि प्रत्येक व्यक्ति इस द्विविधा का समाधान चाहता था। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही इस धर्म-साधना में तत्पर थे। हिन्दू विद्वानों के तथा मुसलमान ज्ञानियों के सम्मिलित विवाद होते रहते थे। अकबर का दरबार इसके लिये प्रसिद्ध है। अकबर के सम्मुख सूरदास के द्वारा गाया हुआ "नाहिन रह्यो मन में ठौर" जग प्रसिद्ध है। नन्ददास की मृत्यु अकबर-दरबार में हुई ही थी जिसके अनेकों प्रमाण हैं। औरंगजेब के समय तक ऐसे विवादों का प्रचलन रहा। ये विवाद तत्कालीन सामाजिक समस्या के समाधान रूप में प्रतीत होते हैं जिनका प्रचलन लगभग सारे देश में था। राजस्थान में भी ऐसे ही भ्रमरगीतों

तथा सगुण-निर्गुण विवाद सम्बन्धी पदों की रचना हुई । ❋ निर्गुण-सगुण का विवाद आपस में ही नहीं वरन् अन्य मतावलम्बियों से भी हुआ करता था । निंबार्क-सम्प्रदाय के 'केशव काश्मीरी' का शास्त्रार्थ मथुरा के क़ाज़ी से हुआ था जिसमें क़ाज़ी की हार हुई, इस सत्य का संकेत आनन्दघन के 'परमहंस-वंशावली' के दोहों में मिलता है × ।

तुलसीदासजी ने भी लोमश ऋषि के संवाद में तथा रामायण के अन्य अनेक स्थलों पर अपने निर्गुण-सगुण सम्बन्धी विचार प्रकट किये हैं । काकभुशुण्डि की पूर्व कथा वर्णन में तुलसीदासजी एक अज्ञ प्राणी का स्वरूप चित्रित करते

❋ ब्रिटिश म्यूज़ियम में एक प्रति "सतभाव प्रभुस्तवम" है; इसके रचयिता कदाचित् "मालकवि" हैं । राजस्थान के इन्हीं कवि ने "भमरागीत" नामक एक अन्य रचना भी प्रस्तुत की है, प्राप्त भमरागीत अपूर्ण है—

"जागि दिव भोर भयो नालि के नंदा ।
देखि मुख निर्मला अनंत पूरित कला,
लाजतो पछम गयो चन्दा,
आरती कर लिये, शब्द जदू जदू किये—
सुर असुर नरपति छन्दा,
सहस करि जोरि रवि वदन देखत छबि
मुक्ति किये दूरिन मद के फंदा
जाण शरूप देखत सबै देवनारि अपछर
कब चितहु विकास चितवै न मंदा
कहत असु (भ) माल मुनि सुजसु सुत
श्रवणि सुनि मातु मरु देवि मनिधर आनंदा

(१)

× ख्यात कश्मीरी विपुल, श्री केशव शुभ नाम ।
विद्यानिधि वानी विशल, तिन प्रसाद अभिराम ॥

(२)

काजी कौ माजी कियौ, माडी मथुरा मैंड ।
हरिजन राजी संग लैं, साजी गुरुता अेंड ॥
(डा० केसरीनारायण जी शुक्ल के सौजन्य से)

हैं जो केवल रामचरणों में अनुरक्त है, ऐसे भक्त को ब्रह्म ज्ञान या योग की बात समझ में नहीं आती—

"जेहिं पूँछउँ सोइ मुनि अस कहई
ईश्वर सर्व-भूतमय अहई
निगुन मत नहिं मोहिं सुहाई
सगुन ब्रह्म रति उर अधिकाई"

किन्तु ब्रह्मज्ञानी तो बार-बार

"अकल अनीह अनाम अरूपा
अनुभव गम्य अखण्ड अनूपा" का उपदेश देता है।

काकभुशुण्डि के मन में "निगुन मत मम हृदय न आवा" निगुण मत स्थान ग्रहण नहीं कर पाता। निगुण-चर्चा के विरोध में इसी प्रकार के विचार गोपियाँ भी प्रकट करती हैं—

"ऊधो कौन आहि अधिकारी,
लै न जाहु यह जोग आपुनो, कत तुम होत दुखारी।
यह तो वेद उपनिषद मत है, महापुरुष व्रतधारी,
हम अहीरि अबला ब्रजबासिनि नाहिंन परत सँभारा॥"

ब्रह्मज्ञान के हेतु केवल विद्वान् गुरु उपदेशक की ही आवश्यकता नहीं होती, उसे समझने के हेतु अधिकारी हृदय भी चाहिये। केवल बीज का कोई उपयोग नहीं, उसे पौदे का रूप देने के लिये उपजाऊ भूमि भी अनिवार्य है। साधारण जनता का मस्तिष्क इतना सबल नहीं होता कि वह धर्म के गूढ़ तत्त्वों को समझबूझ सके तथा हृदयंगम करे। इसी कारण जनता को एक सीधे तथा सरल मार्ग का निर्देश करना चाहिये। गीता के शब्द भी इस विचार का समर्थन करते हैं—

"न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥" (अध्याय ३)

भ्रमरगीत में ब्रह्म-ज्ञान का उपदेश ऊधव देते हैं, जो प्रेमस्वरूपा गोपियों की बुद्धि से परे है। ज्ञान-पथ का निर्वाह भी अत्यन्त कठिन है—

"ज्ञान पंथ कृपान कै धारा,
परत खगेस होइ नहिं बारा"

किन्तु भक्ति या सगुणोपासना चिन्तामणि के सदृश है। गोपियों के अनुसार भी—

"आमोलत ता बिन ऊधो, मनि दै लेहु मह्यो"

× × ×

ऊधो राखिये वह बात।
कहत हौ अनहद सुबानी, सुनत हम चँपि जात॥
जोग-फल कुष्माण्ड ऐसो, अजामुख न समात।
बार बार न भाखिये कोउ, अमृत तजि विष खात॥

प्रेम की गंभीर-वृत्ति का प्रसरण सभी प्राणियों में पाया जाता है अतः उसी का आधार ग्रहण करके अच्छी-बुरी सभी भावनाओं को सदाकार देने का प्रयास करना उस समय की एक सामान्य प्रवृत्ति थी। योग का तो नाम ही "चित्तवृत्तिनिरोधः" है, किन्तु चित्त की वृत्तियों का तूफानी लहरों की भाँति अनिर्दिष्ट और अशान्त रहना भी श्रेयस्कर नहीं। इस ध्येय की पूर्ति के लिये एक सुलभ मार्ग का निर्देश तत्त्ववेत्ताओं ने किया और इस प्रकार कृष्ण की स्थापना इष्टदेव के रूप में हुई। मनुष्य अपने प्रिय के हेतु सर्वस्व अर्पण करने को तत्पर रहता है। प्रेम के बीज का वपन ही समर्पण या त्याग में होता है अतः यदि साधारण वर्ग की समस्त सद्-असद् वृत्तियों को केवल कृष्ण की ओर ही प्रेरित कर दिया जाय तो वे ही वृत्तियाँ सत्कर्म की बन जायँगी। चित्तवृत्तियों के उन्नयन (Sublimation) का प्रयत्न उस समय की सगुणोपासनापद्धति में दृष्टिगोचर होता है। गोपियों ने अपनी समस्त भावनाओं को कृष्णार्पण कर दिया था। राधा तो कृष्ण रटते रटते कृष्ण-मय हो गई थीं। इस भाव-चित्र में कवि ने इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन

किया है। रोम तथा यूनान के नाटकों (सुखान्त) में जिस प्रकार अश्लील तथा भद्दे चित्रों का प्रदर्शन रंगमञ्च पर कराकर युवकों की कामवासना निःसृत (Purge) करने का प्रयास किया जाता था उसी प्रकार की भावना हमें कृष्ण-गोपी सम्बन्ध में निहित दिखलाई पड़ती है। गोपियों का पूर्ण नग्नचित्र कृष्ण के सम्मुख था। उनमें किसी प्रकार का आपस में भेद-भाव नहीं था। अपने समस्त भावों (बाल, दाम्पत्य, सख्य) का आरोपण गोपियाँ कृष्ण पर करती थीं और आरोप्य पदार्थ के अलौकिक होने के कारण उनकी भावनायें भी अलौकिक हो जाती थीं।

गोपियों का प्रेम एकांगी है, प्रेम का प्रतिदान न लेकर उनका लौकिक प्रेम अलौकिक तथा त्यागमय हो जाता है जिसकी आवश्यकता समाज को सदा से रही है। आज की अहिंसा तथा क्राइस्ट का कथन 'एक गाल पर तमाचा मारने-वाले के सामने दूसरा भी गाल कर दो' भी इसी निःस्वार्थ प्रेम के प्रतीक हैं।

इसी प्रकार कृष्ण के सगुण रूप का आधार लेकर कवियों ने उस समय समाज-संस्कार का प्रयास किया। धार्मिक विवादों के कारण काशी ज्ञान का केन्द्र बन गई थी। इसका भी आभास हमें सूर के भ्रमरगीत में उपलब्ध होता है।

"जोग मोर सिर बोझ आनि कै कत तुम घोष उतारी ?
इतनी दूरि जाहु चलि कासी, जहाँ बिकति है प्यारी॥"

× × ×

"गोकुल सबै गोपाल उपासी,
जोग अंग साधत जे ऊधो ते सब बसत ईसपुर कासी"

कल्पना के विमान पर चढ़ लीलाधाम की विभिन्न लीला का दर्शन करनेवाले अन्धे कवि सूरदास उस समय की राजनीतिक परिस्थिति से अन-भिज्ञ नहीं थे, उन्होंने कई स्थलों पर इसका निर्देश भी किया है। तुलसी के—

"यद्यपि जग दारुन दुख नाना
सबसे कठिन जाति अपमाना।"

शब्दों से तत्कालीन हिन्दू जनता की भावनाओं का आभास मिल जाता है। इसी प्रकार सूर की भी कुछ पंक्तियों में राजधर्म और राजनीति का आभास मिलता है—

"ते क्यों नीति करत आपुन जे औरनि रीति छुड़ाये।
राजधर्म सब भये सूर जहँ प्रजा न जायँ सताये॥"

यदि राजसत्ता के साथ जनता का विश्वास और सहयोग नहीं है तो उसका टिकना कठिन है—

"सूर स्याम कैसे निबहेगी अन्धधुन्ध सरकार"

इस प्रकार के कथनों से उस समय के कुछ शासकों की मनोवृत्तियों का आभास मिल जाता है। अकबर यद्यपि सहिष्णु था, उसने धर्म के कारण कभी किसी पर अत्याचार नहीं किया, किन्तु विभिन्न सूबों के शासकों के व्यवहार सदैव सराहनीय रहे हों यह कहना कठिन है।

आधुनिक भ्रमरगीतों पर तो सामाजिक परिस्थिति का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। विज्ञान की दृष्टि के साथ साथ मनुष्य की भावनाओं पर बुद्धि ने आधिपत्य स्थापित किया, आधुनिक बुद्धिवादी युग में प्रत्येक सत्य 'क्यों' और 'कैसे' के पश्चात् ही ग्रहण किया जाता है। कृष्ण के गोपिकाओं के साथ रासविहार के औचित्यानौचित्य पर बहुत पहले ही लोकदृष्टि गई थी और उसे आध्यात्मिक चूनरी के द्वारा ढककर औचित्य प्रदान भी किया गया, जो उस समय के समाज के अनुकूल था। किन्तु ऐसे आश्चर्यजनक प्रभाव तथा परोक्ष तथ्यों पर आधुनिक समाज सहसा विश्वास नहीं कर पाता। अयोध्यासिंह उपाध्याय ने समाज की वृत्ति को समझा और रास को स्वाभाविक सत्य ठहराया। गोपियाँ अपने पूर्वसुखों का स्मरण करती हैं, सतोगुण प्रधान शरद् पूर्णिमा में जब रास हुआ था, उस समय केवल गोपियाँ ही कृष्ण की वेणु से मोहित न हुईं, गोपगण भी समान रूप से उस माधुर्य रसास्वादन में रत थे।

"गोपी समेत अतएव समस्त ग्वाले।
भूले स्वगात सुधि हो मुरली रसाद्र॥

गाना रुका सकल-वाद्य रुके सवीणा।
वंशी विचित्र स्वर केवल गूँजता था॥" *

उपाध्यायजी ने राधा को एक नवीन चरित्र प्रदान किया है, यह भी समाज की एक आवश्यकता थी। सदियों से परतंत्रता के बन्धन में बँधा हुआ भारत अपना गुण-गौरव तथा संपत्ति खो बैठा था, दारिद्र्य तथा अशिक्षा ने उसे खोखला कर डाला था। ऐसे समय में स्वार्थहीन स्वयंसेविकाओं की अत्यन्त आवश्यकता थी। सर्वमान्य अलौकिक प्राणी-वर्ग की एक विभूति राधा को ऐसा ही चरित्र प्रदान करके उपाध्यायजी ने एक नवीन दृष्टिकोण समाज के सम्मुख रक्खा।

"कंगालों को, विवश विधवा औ अनाथाश्रितों की।
उद्विग्नों की सुरति करना और उन्हें त्राण देना॥
सत्कार्य्यों का, परहृदय की पीर का ध्यान आना।
मानी जाती स्मरण अविधा भक्ति है भावुकों में॥"

तथा

जो प्राणिपुञ्ज निज कर्म निपीड़ितों से।
नीचे समाज वपु के पग सा पड़ा है॥
देना उसे शरण मान प्रयत्न द्वारा।
है भक्ति लोकपति की पर सेवनाख्या॥*

"रसाल" जी की गोपियों का वाक्चातुर्य तथा बुद्धि पर आधारित तर्क भी समय और समाज का ही प्रत्यक्षीकरण है।

सत्यनारायणजी 'कविरत्न' के भ्रमरगीत में तो सामाजिक चित्रण के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, दार्शनिक विचारधारा का प्रायः लोप है। यशोदाजी की कृष्ण-विरह अवस्था, स्वातन्त्र्य विहीन भारत-भूमि का ही चित्रण ज्ञात होती है। उसके बाद ही कवि यशोदाजी की निरक्षरता की ओर इंगित करता है, जो पूर्णरूपेण उस समय की स्त्री-शिक्षा के अभाव की ओर संकेत है।

* "प्रिय-प्रवास" अयोध्यासिंह उपाध्याय।

भारतीय समाज सदा से प्राचीनता का पक्षपाती रहा है, कवि ने उनकी इस मनोवृत्ति से यथास्थान लाभ उठाया है। स्त्री-शिक्षा के पक्ष में कवि ने प्राचीन शिक्षित नारियों के उदाहरण दिये हैं—

"सुनी गरग सों अनुसूया की पुण्य कहानी,
सीता सती प्रनीता की सुठि कथा पुरानी।
विशद ब्रह्म विद्या पगी, मैत्रेयी तिय रत्न,
सास्त्र पारगी गारगी, मन्दालसा सयत्न।
पढ़ी सबकी सबै ॥"

वे माता-पिता, जो अपनी सन्तान को शिक्षा नहीं देते, उनके शत्रु सदृश हैं "माता-पिता वैरी भये, सिच्छा दई न मोहीं"। उस समय कुछ लोग स्त्री-शिक्षा के पक्ष में थे और कुछ विपक्ष में, इसका भी आभास 'कविरत्न' जी के भ्रमरदूत में प्राप्त है—

नारी सिच्छा निरादरत जे लोग अनारी।
ते स्वदेस-अवनीस प्रचण्ड पातक अधिकारी ॥
निरखि हाल मेरो प्रथम, लेउ समुझि सब कोइ।
विद्याबल लहि मति परम, अबला सबला होइ ॥
लखौ अजमाई कैं ॥"

इस प्रकार नारीवर्ग के समाज में समानाधिकारों की बात चल पड़ी थी, मुग़लकाल में जो नारी उपभोग की वस्तु मात्र थी, वही अब पुनः अर्धाङ्गिनी का स्थान ग्रहण कर रही थी। समाजोद्धार, स्वदेशोद्धार आदि स्त्री-शिक्षा के अभाव में असम्भव माने जाने लगे थे।

"सात समुन्दर पै भयौ, दूरि द्वारका नाथ
जाइगो को वहाँ।"

पंक्ति में भी यही ध्वनि पाई जाती है कि देश का वास्तविक शासक तो उतनी दूर रहता है, फिर उसे यहाँ की दुर्दशा का क्या ज्ञान।

तत्कालीन समाज में स्वतन्त्रता, समता और सहभ्रातृता की विशेष चर्चा थी, सारा समाज इन उद्देश्यों की प्राप्ति के हेतु लालायित था। छूत-छात, परतन्त्रता तथा विषम व्यवहार समाज में व्याप्त थे, इन्हीं विचारों का प्रतिबिम्ब 'कविरत्न' जी के 'भ्रमरदूत' में झलकता है—

"वा बिनु गो ग्वालनु को हित की बात सुझावै।
अरु स्वतन्त्रता समता सहभ्रातृता सिखावै॥"

प्रतिनिधिविहीन समाज, जो कोई निर्दिष्ट मार्ग नहीं खोज पाता, तथा हर प्रकार से विवश और सहिष्णु है, कविरत्नजी के भ्रमरदूत में विशेष रूप से अंकित है—

"जदपि सकल विधि ये सहत दारुन अत्याचार।
पै नहिं कछु मुख सों कहत, कोरे बने गवाँर।
कोउ अगुआ नहीं॥"

विदेशी वस्तुओं के प्रति विशेषकर पाश्चात्य सभ्यता और रहन-सहन के प्रति उस समय का समाज विशेष अनुरक्त था। पूर्वीय सभ्यता, आचार-विचार, सामाजिक रहन-सहन आदि के प्रति लोगों के सुन्दर विचार न थे कुछ अंशों में यह भावना अब तक पाई जाती है। स्त्रियों का पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण करना तथा अपने स्वाभाविक गुणों को भुला देना, आदि सभी बातों के संकेत भ्रमरदूत में हैं—

"भये संकुचित हृदय भीरु अब ऐसे भय में।
काऊ को विस्वास न निज जातीय उदय में॥
लखियत कोऊ रीति न भली, नहिं पूरब अनुराग।
अपनी अपनो ढापुली, अपनो अपनो राग॥
अलापैं जोर सों॥"

तथा

"बेलि नवेली अलबेली दोउ नम्र सुहावैं।
तिनके कोमल सरल भाव कौ सब जस गावैं॥

अब की गोपी मद भरी, अधर चलै इतराय।
चार दिना की छोहरी, गई ऐसी गरवाय ॥
जहाँ देखौ तहाँ ॥

स्वदेशी भेष तथा भाषा का प्रश्न भी उग्र रूप धारण कर रहा था। कुछ लोग इन सबको त्याग, पूर्णरूप से पाश्चात्य अनुकरण करना चाहते थे। किन्तु कुछ लोग विचारों का परिवर्तन मान्य समझते हुए भी देशीय भेष तथा भाषा को नहीं छोड़ना चाहते थे। खड़ी बोली और ब्रजभाषा का प्रश्न भी छिड़ गया था, इन सभी समस्याओं का प्रतिबिम्ब "भ्रमर-दूत" में दृष्टिगोचर होता है—

"नहिं देसीय भेष भावनु की आसा कोऊ।
लखियत जो ब्रजभाषा, जाति हिरानी सोऊ ॥
आस्तिक बुधि बंधन नहीं, बिगरी सब मरजाद।
सब काऊ के हिय बसें, न्यारे न्यारे स्वाद ॥
अनोखे ढंग के ॥

आंग्ल शासनकाल में गोरे-काले का भेद सर्वत्र था। अँगरेजों ने चतुर्दिक् अपना शासन फैलाकर सभी को प्रभावित किया था, ऐसी अवस्था में केवल कृष्ण ही भारतवासियों का सहारा थे—"मों कारी को कारे तुम नयननु के तारे"। देश में स्वदेश, स्वजाति तथा स्वधर्म के प्रति प्रेमोत्पन्न करके जाग्रति उत्पन्न करने का भी उनका प्रयास है।

नये-नये आविष्कारों ने देश के प्राकृतिक सौन्दर्य को नष्ट कर दिया था जहाँ पहले ब्रजमण्डल वनों का प्रान्त कहा जाता था, वहाँ अब खेतों की भरमार है। अकाल, कुवृष्टि, अतिवृष्टि से जनता पीड़ित रहती है। शासकवर्ग को केवल शोषण की चिन्ता थी; ऐसी अवस्था में स्वदेशी भाई भी विदेशी रंग में रंग जायँ तब फिर उस देश की क्या दशा होगी।

"नित नव परत अकाल, काल कौ चलतु चक्र कहुँ,
जीवन कौ आनन्द न देख्यौ जात यहाँ कहुँ।
बढ़्यौ यथेच्छाचार कृत जहँ देखौ तहँ राज।
होत जात दुर्बल विकृत, दिन-दिन आर्य समाज ॥
दिनन के फेर सों ॥

जे तजि मातृभूमि सों ममता होत प्रवासी।
तिन्हें बिदेसी तंग करत, है विपदा खासी॥
टिमटिमाति जातीय जोति जो दीप सिखा-सी।
लगत बाहिरी ब्यारि बुझन चाहत अबला-सी॥
सेष न रह्यो सनेह कौ, काहू हिय में लेस।
कासों कहिए गेह की, देसहि में. परदेस॥

सामाजिक प्रभाव के कारण ही कविरत्नजी के काव्य में दार्शनिक पक्ष का अभाव है। इस बौद्धिक युग में लोग आध्यात्मिक उन्नति की अपेक्षा लौकिक उन्नति का ही अधिक ध्यान रखते हैं। अतः उनके भ्रमरदूत में भी आध्यात्मिक पक्ष का अभाव है।

उपसंहार

'भ्रमरगीत' की परम्परा का पिछले पृष्ठों में कई दृष्टियों से किया गया संक्षिप्त विवेचन, काव्य की एक परम्परा विशेष की कथा कह रहा है। भ्रमर-गीत के विकास में साहित्य, दर्शन, समाज एवं राजनीति का जो हाथ रहा है उसके अध्ययन, प्रभाव और विश्लेषण का भी प्रयास किया गया है।

'भ्रमरगीत' हिन्दी-काव्य का एक मधुर और सरस अंग है। कृष्णभक्त कवियों ने इसके द्वारा मनोभावों का जो चित्र प्रस्तुत किया, उसमें उनके हृदय का राग तथा बुद्धि की वक्रता दोनों का संकेत मिलता है। उसमें उनकी तन्मयता और सामयिक परिस्थितियों की आलोचनात्मक प्रवृत्ति के भी दर्शन होते हैं जो सगुण एवं निर्गुण विवाद के प्रसंग में व्यक्त हुई है। इस प्रकार आरम्भ में भ्रमरगीत, कवियों के व्यक्तित्व और युग के आन्दोलनों का चित्र बन गया। समय के साथ-साथ जब हृदय का राग और बुद्धि की तीक्ष्णता कम हुई तो निर्गुण-सगुणवाद का प्रतिपादन हिन्दी-कविता में एक रूढ़िगत परम्परारूप में चल पड़ा। रीतिकाल में इसका यही रूप प्रबल रहा।

आधुनिक युग के प्रारम्भ में भ्रमरगीत की इसी परम्परा ने नया परिधान धारण किया और सामाजिक जागरण का संदेश दिया।

इस प्रकार 'भ्रमरगीत' हृदय का स्वाभाविक उद्‌गार, काव्य की पद्धति विशेष, विचार प्रकाशन का उपकरण एवं परम्परा विशेष बन गया और आगे चलकर राजनीतिक तथा सामाजिक विचारों का संदेशवाहक बना। काव्य की एक ही वस्तु, किस प्रकार कवि तथा युग के प्रभाव से भिन्न-भिन्न प्रकार के भावों के वहन का साधन बन जाती है। इसकी सुन्दर एवं रोचक कथा हमें भ्रमरगीत के विकास में प्रत्यक्ष होती है। इस प्रकार भ्रमरगीत कवि, युग एवं देश के जीवन के सभी अंगों से समन्वित प्रतीत होता है।

वर्तमान समय में जब कि इस परम्परा का अन्त सा हुआ दिखाई पड़ता है। यह आवश्यक प्रतीत होता है कि तीन सौ वर्ष की इस परम्परा का इतिहास प्रस्तुत कर उसका अध्ययन एवं विश्लेषण किया जाय प्रस्तुत निबन्ध इसी दिशा में एक तुच्छ प्रयास है।